वर्ष ४३] * * * * [अङ्क ४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,६०,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख २०२६, अप्रैल १९६९

विषय — पृष्ठ-संख्या

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें ९.०० विदेशमें १३.३५ (१५ शिलिंग) } जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ { साधारण प्रति भारतमें ५० पै० विदेशमें ८० पै० (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

पर्वतोंपर पर्यटन करनेवाले वनवासी सीता-राम-लक्ष्मण

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण
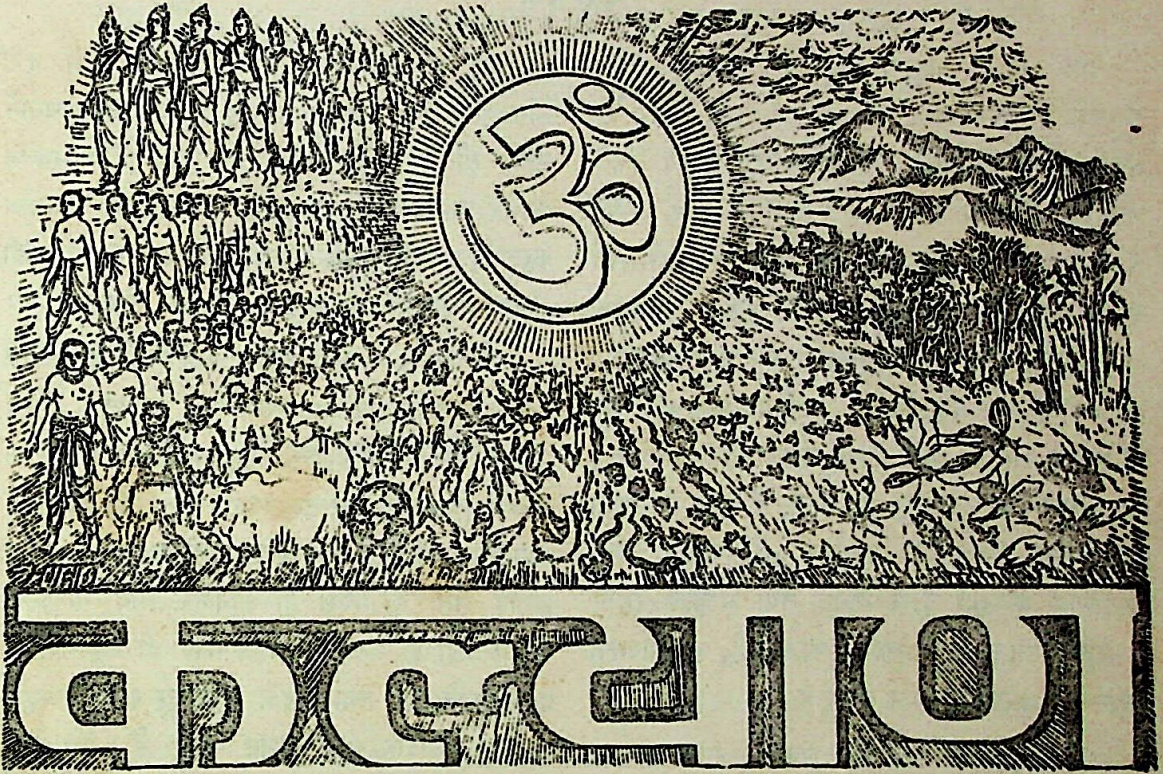
शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते ।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचेता न भवाय कल्पते ॥

वर्ष ४३ | गोरखपुर, सौर वैशाख २०२६, अप्रैल १९६९ | संख्या ४ पूर्ण संख्या ५०९

पर्वतोंपर पर्यटन करनेवाले वनवासी सीता-राम-लक्ष्मण

लक्ष्मण अनुज सती सीता सह मर्यादा-पुरुषोत्तम राम ।
पिता-वचनका पालन करते वन-वन विचर रहे अभिराम ॥
कभी पर्वतारोहण करते, कभी उतर करते विश्राम ।
शुभ मर्यादा-लीला करते लीलामय आदर्श ललाम ॥

याद रक्खो—मनुष्य भौतिक जगत्में भौतिक लाभोंको ही परम लाभ मानकर जब कर्म करता है, तब उसमें विलासप्रियता, इन्द्रियतृप्तिकी अदम्य इच्छा, भोगोंकी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई कामना—तृष्णा, मोह, लोभ, द्वेष, क्रोध, कलह, हिंसा आदि दोष उत्तरोत्तर बढ़ते रहते हैं। फलतः जीवनमें असंयम, अधीरता, अनियमितता और नित्य बढ़नेवाली घोर अशान्ति आदि आ जाते हैं और वह भौतिक उन्नतिमें सफल होते हुए भी सर्वथा असफल तथा संतप्त-जीवन ही रहता है। इसी स्थितिमें उसकी मृत्यु हो जाती है और वह अपने पूर्वकर्मजनित संस्कारोंके अनुसार ही परलोक तथा पुनर्जन्मोंमें बार-बार दुःख भोगता तथा भटकता रहता है। यह मानव-जीवनकी बड़ी असफलता है, जो जीवनके दुरुपयोगके परिणाममें प्राप्त होती है।

याद रक्खो—जिस मनुष्यके जीवनका लक्ष्य अध्यात्म होता है, वह भौतिक-जगत्में यथायोग्य कर्तव्यपालन करता हुआ भी त्याग, इन्द्रिय-सुखकी इच्छाके अभाव, भोगवासनासे निवृत्ति, विवेक-वैराग्य, प्रेम, सेवा, परदुःख-निवारणार्थ निजसुखदान, भगवान्में प्रीति, सर्वत्र आत्म-दर्शन आदि सद्गुणोंसे अपनी योग्यता, स्थिति और भावनाके अनुसार सम्पन्न होता है और उसके जीवनमें सहज ही संयम, धैर्य, नियमितता आदिका विकास तथा परम शाश्वती शान्तिका प्रादुर्भाव होने लगता है और भौतिक जगत्की किसी भी उच्च-नीच परिस्थितिमें रहते हुए ही वह परम सुखी तथा संतुष्ट-जीवन होता है। इस स्थितिमें उसकी मृत्यु हो जाती है तो वह जीवनकी परम सफलतारूप भगवत्प्राप्ति या कैवल्य-मुक्तिको प्राप्त होता है अथवा साधन अपरिपक्व रह गया हो तो योगभ्रष्टको प्राप्त होनेवाले शुभ दैवी मानवकुलमें पुनः उत्पन्न होकर वह पूर्वाभ्यासवश साधनामें सहज ही प्रवृत्त हो जाता है और परिपक्व-साधन बनकर इस जीवनमें भगवत्प्राप्ति या मुक्तिकी उपलब्धि करता है। यही मानव-जीवनका सदुपयोग है और यही जीवनकी वास्तविक परम सार्थकता और सफलता है।

याद रक्खो—मानव-जीवन मिला ही है आध्यात्मिक उन्नति करते हुए भगवत्प्राप्तिरूप परम सफलताके लिये। जीवनके इस यथार्थ लक्ष्यको भूलकर जो केवल भौतिक लाभके लिये ही निरन्तर व्यस्त रहता है, वह बहुत बड़ा प्रमाद करता है और लक्ष्यभ्रष्ट होकर अपना भविष्य बिगाड़ लेता है। ऐसे ही मानवोंके लिये भगवान्ने गीतामें कहा है—'ऐसे लोग अपनेको ही श्रेष्ठ मानकर प्रमाद करते, धन तथा मानके मदमें चूर रहते, दम्भपूर्ण यज्ञ-सेवा आदिके द्वारा यजन करते हैं। ऐसे द्वेष-भाव रखनेवाले, क्रूर-स्वभाव, पापाचारी नराधमोंको मैं (भगवान्) बार-बार सूअर, गधे, पिशाच आदिकी आसुरी योनियोंमें डालता हूँ। अर्जुन ! ऐसे मूढ जीव जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं और मुझको (भगवान्को) न प्राप्त होकर आसुरी योनिसे भी नीच (घोर नरक आदि) गतिमें ही जाते हैं।' यही मानव-जीवनका घोर दुष्परिणाम है !

याद रक्खो—इस घोर दुष्परिणामसे बचनेके लिये भगवत्कृपाका आश्रय लेकर जीवनको पवित्र आचरणोंसे तथा त्याग-वैराग्य-भक्ति-ज्ञानसे युक्त विशुद्ध आध्यात्मिक बनाना चाहिये और इस अध्यात्ममें स्थित रहकर ही अपने प्रत्येक कर्मके द्वारा भगवान्का पूजन करना चाहिये। इसीसे जीवन सफल होगा।

'शिव'

ब्रह्मलीन परमपूज्य श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतमय उपदेश

[उनके बहुत पुराने पत्र]

(१)

सादर हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । समाचार विदित हुए । आपने अपनी एक घटनाका परिचय देते हुए मुझसे सम्मति माँगी है, इसलिये मेरे विचारमें जो बात आपके लिये हितकर माॡम हुई, वह लिख रहा हूँ ।

× × × ×

आपकी बातोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) आपके मनमें जो अनुचित घटनाका और गुरुकी बात न माननेका पश्चात्ताप है, यह प्रभुकी महती कृपा है । अतः उनकी कृपासे मिले हुए ज्ञानका आदर करके उन्हींकी कृपाके बलपर फिर कभी कोई अनुचित काम न करनेका दृढ़ संकल्प करना चाहिये ।

(२) गुरुदेवसे अवश्य मिलना चाहिये और सरलताके साथ अपनी गलती और अपराध उनके सामने निवेदन करके उनसे क्षमा माँग लेनी चाहिये एवं भविष्यमें बुरा संकल्प न उठे, इसके लिये उनसे साधन पूछना चाहिये । वे जो कुछ साधन बतावें, विश्वासपूर्वक उसके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये । महात्मा लोग बड़े दयालु होते हैं, उनके द्वारा अहित नहीं होता, उनमें अभिमान और द्वेषका लेश भी नहीं रहता । अतः दुविधा छोड़कर आपको अपने गुरुके सम्मुख जाना चाहिये, संकोच या भय नहीं करना चाहिये ।

(३) माता-पिताकी प्रसन्नताके लिये और अपना हित सोचकर अपने गुरुजीकी आज्ञा प्राप्त करके आपको विवाहका प्रस्ताव स्वीकार कर लेना चाहिये, इसमें कोई हानि नहीं है । भोगद्वारा भोगोंके परिणामका अनुभव करके हरेक प्रकारकी विषयासक्तिको मिटानेके लिये गृहस्थ-आश्रम बड़ा उपयोगी है । इसीलिये हमारे शास्त्रोंने इसका विधान किया है । गृहस्थ-आश्रम संयम सीखनेके लिये एक प्रकारका विद्यालय है ।

(२)

सप्रेम राम-राम । तुम्हारा पत्र मिला । समाचार ज्ञात हुए । तुमने लिखा कि खानेकी वस्तुओंपर मन बहुत चलता है, उन्हें खाता भी हूँ, परंतु मनमें आता है कि जो अच्छी वस्तु मिले उसे तो अपने प्रेमास्पद प्रभुको ही खिलाना चाहिये; क्योंकि वे ही इसके अधिकारी हैं । सो माॡम किया । तुम्हारे मनमें जो बात आयी वह ठीक है, ऐसे ही करना चाहिये । तुमने गत मंगलवारको हुए स्वप्नकी बात लिखी तथा यह भी लिखा कि भगवान्‌के श्रीविग्रहकी पूजा खूब प्रेम एवं विधिपूर्वक की सो बहुत अच्छी बात है । इस प्रकार भगवद्विषयक स्वप्न आना अच्छा ही है । तुमने पूछा—'प्रभुका वियोग और संयोग साधक अवस्थामें ही होता है या सिद्धावस्थामें भी ? और उनका क्या स्वरूप रहता है ?' सो साधक अवस्थामें शरीरसे वियोग रहता है, पर मनसे संयोग रहता है । सिद्धावस्थामें शरीरसे संयोग-वियोग दोनों ही होते हैं । उनका भगवान्‌से वियोग भी संयोगके समान है; क्योंकि उनका शरीरसे वियोग रहनेपर भी मनसे प्रत्यक्षकी भाँति संयोग रहता है जैसे गोपियोंको रहता था ।

तुम्हारी पत्नीसे बदलेमें मेरी ओरसे 'राम-राम' कहना चाहिये ।××× उसका यह कर्तव्य है कि पतिको रोज प्रणाम करे, सेवा करे और उनकी आज्ञाका पालन करे । इसी प्रकार घरमें जो पूज्य एवं बड़े हों उनकी भी सेवा, आज्ञाका पालन और रोज प्रणाम करे तथा

भगवान्‌को नित्य-निरन्तर याद रखते हुए घरका सब काम करे। ये सब बातें उससे कह देनी चाहिये।×××
भगवान्‌को हर समय याद रखना चाहिये।×××

(३)

सादर हरिस्मरण! भगवान्‌में प्रेम हो, इसके लिये श्रद्धापूर्वक निष्कामभावसे भगवान्‌का भजन-ध्यान करना चाहिये। समयको अमोलक एवं मृत्युको नजदीक समझना चाहिये। इस प्रकार समझनेसे भी भगवान्‌में प्रेम हो सकता है। 'यह सब कुछ भगवान्‌का है, मैं भी भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं और सबमें भगवान् विराजमान हैं इसलिये सबकी सेवा ही भगवान्‌की सेवा है'—ऐसा समझकर या सबको भगवान्‌का स्वरूप और सबके द्वारा होनेवाली चेष्टा यानी क्रियाको भगवान्‌की लीला समझकर हर समय प्रसन्न रहना चाहिये।

वैराग्यपूर्वक संसारके भोगोंका मन और इन्द्रियोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करके मन और इन्द्रियोंको भगवान्‌में लगा देना चाहिये। भगवान्‌के नाम तथा गुण-प्रभाव-सहित भगवान्‌के स्वरूपको हर समय याद रखते हुए समय बिताना चाहिये। सांसारिक बातों एवं पदार्थोंका चिन्तन करके समयको नष्ट करना मनुष्यका स्वभाव है; किंतु अपने समयका मूल्य समझकर उसका एक क्षण भी व्यर्थ काममें नहीं गँवाना चाहिये। हर समय निरन्तर भगवान्‌की मधुर स्मृति बनी रहे, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये। रात्रिमें शयनके समय भी भगवान्‌का भजन-ध्यान करते हुए ही शयन करना चाहिये—इस प्रकार करनेसे शयनकाल भी साधनकाल हो सकता है।

प्रातःकाल और सायंकाल नियमित रूपसे जो साधन किया जाता है, उसको उच्चकोटिका बनाना चाहिये। अपने-अपने अधिकारके अनुसार संध्या, गायत्री-जप, पूजा, गीता-रामायणका पाठ, स्तुति-प्रार्थना, भगवन्नाम-जप और भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक अर्थ, भाव और विधिको समझकर गुप्त और निष्काम-भावसे नित्य-निरन्तर करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे परमात्माकी प्राप्ति बहुत ही शीघ्र हो सकती है।

समय बहुत मूल्यवान् है। शरीरका कोई भरोसा नहीं है। अतः अपने समयका बहुत ही सदुपयोग करना चाहिये।

(४)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र यथासमय मिल गया था। समय कम मिलनेके कारण उत्तर देनेमें विलम्ब हुआ। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) आपके ढाई वर्षके लड़केका देहावसान अचानक हो गया—यह निरुपाय और दुःखकी बात है। पर आपका उसके साथ इतना ही संयोग था। इसमें किसीका वश नहीं चलता—यह समझकर संतोष करना चाहिये। दुःख करनेमें कोई लाभ नहीं है, अतः दुःख नहीं करना चाहिये। घरवालोंको धैर्य देना चाहिये एवं उसकी आत्माको शान्ति मिले, इसके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करनी चाहिये। कोई भी घटना प्रतिकूल हो चाहे अनुकूल, उसके परिणाममें हित भरा रहता है। पर यह बात उस समय साधारण प्राणियोंकी समझमें नहीं आती। प्रभु-विश्वासी ही इस रहस्यको समझ पाता है।

(२) आपके लड़केकी अचानक मृत्यु होनेका कारण लिखा सो ज्ञात हुआ। इस प्रकारकी असावधानी फिर कभी नहीं करनी चाहिये—यह इस घटनासे सीखनेकी चीज है।

(३) दुःखकी शान्तिके लिये प्रभुका भजन करना, प्रभुकी महिमापर विश्वास करना और इस घटनाको भी प्रभुकी कृपा ही मानना बहुत उपयोगी

है। ऐसा करनेसे दुःख आनन्दके रूपमें बदल सकता है और मृत आत्माको भी शान्ति मिल सकती है।

(४) मृतककी आत्माको शान्ति मिले, ऐसा भाव करनेसे, उसका भार प्रभुके समर्पण करके निश्चिन्त हो जानेसे, उसके निमित्त छोटे-छोटे बालकोंको उसकी रुचिके अनुकूल भोजन करानेसे उसे शान्ति मिल सकती है।

(५) होलीके उत्सवके निमित्त जो हँसी-मजाक, खेल-कूद आदि किये जाते हैं, वे सब तो आपको नहीं करने चाहिये; परंतु उस बालकके कल्याणके लिये भजन-कीर्तन करके उत्सव मनाना चाहिये।

(५)

सप्रेम राम राम। तुम्हारा पत्र मिला।×××तुम्हारे मनमें जो यह भावना आयी कि हमारे हाथके लिखे हुए पन्नेकी नकल खुद न रखकर दूसरोंको दे देनी चाहिये, यह बहुत उत्तम है। मन त्यागमय बन जाय—ऐसी अभिलाषाको बढ़ाते रहना चाहिये। भगवान्की कृपासे सब कुछ हो सकता है। जीवन त्यागमय बन जाय—इसके लिये प्रभुसे प्रार्थना करनी चाहिये। हमारी सामर्थ्य किसीके जीवनको त्यागमय बना देनेकी नहीं है। चित्रकूट जानेका मन होते हुए भी तुम अपने पिताजी, माताजी एवं भाई आदिको चित्रकूट भेजना चाहते हो, यह अच्छी बात है। हमसे मिलनेकी इच्छा लिखी सो हर समय अपने मनमें भगवान्से मिलनेकी ही इच्छाको जाग्रत् करना चाहिये। मन ऊँचेसे ऊँचा प्रेमी बनना चाहता है लिखा सो बहुत अच्छी बात है। इसके लिये भगवान्से स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। 'प्रभु मूरति कृपामई है' इसका भरोसा लिखा सो बहुत ठीक है। सत्संगकी बातें लिखनेके लिये लिखा सो हमने दीपावलीके पत्रमें सत्संगकी उपयोगी बातें लिखी हैं। उनके अनुसार जीवन बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये।×××

×××। 'प्रभुमें प्रेम हो, विरह हो—ऐसी इच्छा मनमें उत्पन्न होती है, तब ऐसा क्यों नहीं हो जाता—यह भावना भी मनमें आती है; यह इच्छा भी समर्पणमें कमी है। लिखा सो ठीक है। परंतु भगवत्प्रेमीकी यह इच्छा दूषित नहीं है। समर्पणकी पूरी तैयारी हो जाय, ऐसा मनमें आता लिखा सो ठीक है, परंतु समर्पणको कभी पूरा नहीं मानना चाहिये; क्योंकि किसी भी चीजको पूरी हो गयी माननेसे उसकी प्रगति वहीं रुक जाती है। इसलिये समर्पणकी इच्छाको सदा ही अधूरी मानकर उसे बढ़ाते रहना चाहिये। समर्पण भगवान्के प्रति ही होना चाहिये। वे ही उसके योग्य हैं। अभीतक प्यारेकी स्मृति सदा नहीं रहती लिखा सो स्मृति रखनेकी चेष्टा करनी चाहिये। भगवान्से इसके लिये प्रार्थना करनी चाहिये। जहाँ सर्वसमर्पण हो जाता है, वहाँ एक ही तत्त्व रहता है लिखा सो ठीक है। इस तरहका समर्पण भगवान्के प्रति करना चाहिये। भगवान् श्रीरामकी पूजा आदि करते हो, यह बहुत अच्छी बात है। हमसे मिलनेकी इच्छा होती है यह तुम्हारे प्रेमकी बात है। भगवान् श्रीकृष्ण जिस प्रकार प्रेमके वश होकर गोपियोंका काम करते थे, वैसा प्रेमी होनेकी मनमें आती लिखा सो बहुत ठीक है। भगवान्की कृपासे सब कुछ हो सकता है; उन्हींसे इसके लिये प्रार्थना करनी चाहिये।

×××। एक-एक क्षणका भगवान्का वियोग असह्य हो जाना चाहिये। मनुष्यका वियोग तो अनिवार्य है। भगवान्से शाश्वत संयोगकी प्रार्थना करनी चाहिये। ×××भगवान् अखिल ब्रह्माण्डके नायक कहे जानेपर सकुचाते हैं एवं भालू-बंदरोंके मित्र कहे जानेपर प्रसन्न होते हैं—भगवान्के लिये यह उचित ही है। भगवान्की कृपाको याद करके हृदय भर आना चाहिये। वे ही सबका ख्याल रखते हैं।×××

×××केवल प्रभुकी कृपाका ही भरोसा रखना चाहिये; हम तो साधारण आदमी हैं।····शीघ्रातिशीघ्र विरह-वेदना विरह माननेसे ही हो सकती है; पर यह वेदना भगवान्‌के ही लिये रखनी चाहिये। भगवान्‌की मानसिक पूजामें निद्रा आती है, इसमें उनकी पूजाके प्रति प्रेम न होना ही कारण हो सकता है। भगवान्‌की पूजाका आनन्द लेते रहनेसे निद्राका आ सकना कठिन है। संसार एवं इसके भोगोंको नाशवान् समझकर उनसे वैराग्य और भगवान्‌में प्रेम करना चाहिये। वैराग्यकी कमीका दुःख होना चाहिये। भगवान्‌से मिलनेकी ही इच्छा रखनी चाहिये।×××तथा भगवान्‌को हर समय याद रखना चाहिये।

×××अब तुम्हारे मनमें खिन्नता नहीं रहती, यह बहुत अच्छी बात है। मनके समस्त भाव भगवान्‌की इच्छाके अनुसार बनें, इसके लिये भगवान्‌से ही प्रार्थना करनी चाहिये। अपने जीवनको भगवान्‌की वस्तु ही समझना चाहिये। भगवान्‌से ही मिलनेका मन रखना चाहिये। भगवान्‌के लिये ही मनमें व्याकुलता होनी चाहिये। यह व्याकुलता उन्हींकी कृपासे प्राप्त हो सकती है, इसलिये उन्हींसे प्रार्थना करनी चाहिये।

कर्तव्यनिष्ठ बनो

[पूज्यपाद योगिराज अनन्तश्री श्रीदेवरहवा बाबाका उपदेश]

(प्रेषक—श्रीरामकृष्णप्रसाद)

जो व्यक्ति जिस काममें लगा हुआ है, उस कामका उचित रीतिसे सम्पादन करना ही उसका कर्तव्य है और जो अपने कर्तव्यका तत्परता और उत्सुकताके साथ शुद्ध मनसे पालन करता है, उसको 'कर्तव्यनिष्ठ' कहते हैं। कर्तव्यनिष्ठ होना एक बड़ा भारी गुण है, इससे आत्मामें बल मिलता है और इसके द्वारा मनुष्य निर्भय होकर बड़े-से-बड़ा काम सुगमतासे कर लेता है। इस प्रकार कर्तव्यनिष्ठता और निर्भयता भी उन्हींको मिलती है, जो चरित्रवान् हैं। अतएव कर्तव्यनिष्ठ और निर्भय बननेके लिये प्रथम सोपान सच्चरित्रता है।

सच्चरित्र व्यक्ति ही उन्नतिशील होता है और जीवनके हर एक क्षेत्रमें सच्चरित्रताकी अत्यन्त आवश्यकता है। जो व्यक्ति सच्चरित्र है, वही जीवनके लब्ध पदार्थोंका उचित उपयोग और उपभोग कर सकता है। जो सच्चरित्र नहीं हैं, उनके जीवनके लब्ध पदार्थ भी एकके बाद दूसरे उनके हाथोंसे क्रमशः निकल जाते हैं और अन्तमें जब आँखें खुलती हैं, तब बड़ा पछतावा होता है।

इसलिये समय रहते चेत जाना चाहिये और सत्संगतिके द्वारा, धार्मिक ग्रन्थोंके अवलोकनद्वारा, महापुरुषोंके चरित्रोंके पठन-पाठन तथा मननद्वारा अपना चरित्र-निर्माण करना चाहिये। आजकल लोग सच्चरित्र बननेकी जगह धनवान् बनना ज्यादा पसंद करते हैं। धनवान् होना कोई बुरी बात नहीं है; किंतु धन भी चरित्रवान् व्यक्तिके ही हाथोंमें शोभा पाता है। अन्यथा वह दोनोंका विनाश करता है। अतएव धनवान् बननेसे कहीं अधिक वाञ्छनीय और श्रेयस्कर चरित्रवान् बनना है। अब दूसरा सोपान, जो कर्तव्यनिष्ठ और निर्भय बननेका है, वह है—परमात्मामें दृढ़ तथा पूर्ण विश्वास। तीनों लोकोंका संचालन भगवान् करते हैं और उनकी कृपाके बिना एक तिनका भी हिल नहीं

सकता, ऐसा विश्वास करके जो उन भगवान्‌के सांनिध्यका अनुभव करते हैं, उनके सारे कर्मोंकी जिम्मेवारी उन महान् प्रभुपर आ जाती है। फिर उस व्यक्तिको भय किसका ?

गीतामें अर्जुनको उपदेश देते हुए भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

अर्थात् 'हे अर्जुन! अपने सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें समर्पण कर दो और आशारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर युद्ध करो अर्थात् कर्म करो।' अच्छे कर्मशील बननेकी यह दृढ़ नींव है कि काम करते समय भगवान्‌में दृढ़ विश्वास रहे। महाबली हनुमान्‌जी भी सम्भवतः लंकामें नहीं जा सकते थे, यदि वे अपने हृदयमें भगवान्‌को धारण नहीं करते। लंकामें पहुँचनेपर उन्हें भी यह आदेश हुआ कि—

प्रबिसि नगर कीजे सब काजा। हृदयँ राखि कोसल पुर राजा॥

उन्होंने अपने हृदयमें भगवान्‌को धारण किया, तभी लंकामें नाना प्रकारके कौतुक करके वे लंकासे सकुशल वापस आये। यह भगवान्‌में विश्वास कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तिको निर्भय बनाता है। अब तीसरा सोपान कर्तव्यनिष्ठताका है। वह है मानापमान या स्तुति-निन्दाकी बेपरवाही। कर्तव्यकर्म करनेमें ऐसा प्रायः होता है कि बहुत-से लोग मान देते हैं, बड़ी प्रशंसा करते हैं और बहुत-से लोग निन्दा और तिरस्कार भी करते हैं। ये सारी निन्दा या स्तुति, मान या अपमान कर्तव्यकर्मसे डिगानेवाले होते हैं। कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तिको इधर ध्यान नहीं देना चाहिये।

प्रतिष्ठा शूकरीविष्ठा गौरवं क्षुद्ररौरवम्।
अतिमानं सुरापानं तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

कर्तव्यपरायण व्यक्तियोंको अपनी प्रतिष्ठा और गौरवको सूअरकी विष्ठा और रौरव नरकके समान समझना चाहिये और साधारण मानकी तो बात ही क्या, अतिमानको भी मदिराके समान समझकर कर्तव्यवान् व्यक्तियोंको इन तीनोंका सदा त्याग करना चाहिये। अब रही अन्तिम बात या अन्तिम सोपान—वह है प्रसन्नता। कर्तव्यपालन करते समय प्रायः अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न हुआ करती हैं। इन अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियोंसे कभी कर्तव्यवान् व्यक्तिको हर्षित या चिन्तित नहीं होना चाहिये। परिस्थितियाँ समय-समयपर बदलती रहती हैं और इनका बदलना अनिवार्य है। अतः प्रत्येक परिस्थितिमें कर्तव्यकर्मकी धारा सदा एक समान चलती रहनी चाहिये। प्रतिकूल परिस्थितियोंसे विवश होकर कभी कर्तव्यकर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। वरं कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति तो प्रतिकूल परिस्थितिको भी अपने कर्तव्य-साधनमें अनुकूल बना लेते हैं, जो केवल मनकी प्रसन्नतासे ही सम्भव है। बड़े-बड़े लोग जहाँ चरित्रवान् और निष्ठावान् हुए हैं वहाँ वे प्रसन्नचित्त और हँसमुख भी हुए हैं। यह उनके जीवन-चरित्रोंसे ज्ञात होता है!

सब रोगोंकी एक दवाई।
हँसना सीखो ऐ मेरे भाई॥

इसलिये हर व्यक्तिको, चाहे वह किसी भी पदपर क्यों न हो, अपने पदके अनुकूल कर्म करते हुए चरित्रवान् बनना चाहिये और अपने कार्यक्रममें निन्दा-स्तुतिकी परवा न करके प्रसन्नचित्तसे प्रभु-स्मरण करते हुए निर्भय होकर अपना कर्तव्यकर्म करना चाहिये। यही कर्मकी या कर्तव्यनिष्ठताकी मर्यादा है।

एक महात्माका प्रसाद

(प्रेषक—श्रीमाधव)

(१)

साधकोंसे दो शब्द

चित्तकी शुद्धिके लिये साधकको सरलतापूर्वक अपनी वस्तुस्थिति अपने सामने स्पष्ट रखनी चाहिये । अपनेसे अपनी दशाको छिपाना नहीं चाहिये । वस्तुस्थितिका वास्तविक परिचय होते ही या तो व्याकुलताकी अग्नि प्रज्वलित होगी अथवा आनन्दकी गङ्गा लहरायेगी । व्याकुलताकी अग्निमें समस्त अशुद्धि भस्मीभूत हो सकती है और आनन्दकी गङ्गामें भी समस्त विकार गल जाते हैं । इन दोनोंमें किसी एक-से चित्त शुद्ध हो सकता है । आनन्दमें व्याकुलता और व्याकुलतामें आनन्द है । जैसे काठमें अग्नि और अग्निमें काठ ।

सुखमें दुःखका दर्शन करते ही दुःख मिट जाता है । दुःखके मिटते ही आनन्दकी गङ्गा लहराने लगती है । सुखमें दुःखका दर्शन करनेका उपाय यह है कि साधकको सुखके आदि और अन्तको जानना चाहिये । ऐसा कोई सुख नहीं है जिसके आदि और अन्तमें दुःख न हो । आदि और अन्तके दुःखको ही मध्यके सुखमें देखना चाहिये । सुखमें दुःखका दर्शन करते ही सुखकी आसक्ति मिट जायगी और कामनाओंका अन्त हो जायगा ।

समस्त दोषका मूल एकमात्र अपनेसे अपनेको छिपाना है । मिथ्या अभिमानजनित सुखकी दासतामें आबद्ध होनेसे अपनेको छिपानेका स्वभाव बन जाता है । जबतक दीनता और अभिमानका अभाव नहीं हो जाता तबतक पुरुषार्थ अथवा शरणागतिकी आवश्यकता बनी ही रहती है । पुरुषार्थसे शरणागति और शरणागतिसे पुरुषार्थ स्वतः होने लगता है । अन्तर केवल इतना ही है कि शरणागतके पुरुषार्थमें कर्तृत्वका अभिमान नहीं रहता और पुरुषार्थीकी शरणागतिमें दीनता नहीं रहती, प्रत्युत अभिन्नता रहती है ।

'अहं'के समर्पणसे भेदका नाश हो जाता है, क्योंकि अहंभावसे भेदका भास होता है । शरणागत साधक भी पुरुषार्थीके समान अनुराग तथा अभिन्नतासे सम्पन्न हो जाता है । पुरुषार्थी यदि मिले हुएका सदुपयोग कर सिद्धि पाता है तो शरणागत उस दातासे नित्य सम्बन्ध स्वीकार कर सिद्धि पाता है ।

चित्तशुद्धिके लिये यह अनिवार्य है कि प्राप्त सामर्थ्यका सदुपयोग किया जाय, पर उससे ममता न की जाय । यह नियम है कि वस्तु आदिकी ममता गलकर स्वतः अनन्तके नित्य सम्बन्धमें विलीन हो जाती है । बस, यही शरणागति है । प्राप्तका सदुपयोग पुरुषार्थ है और उसकी ममताका त्याग शरणागति है । अतः पुरुषार्थ तथा शरणागतिकी एकताके द्वारा बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो सकता है । सच्चे साधकके लिये यही प्रशस्त मार्ग है ।

ॐ आनन्द आनन्द आनन्द !

(२)

प्रीतिका रस

प्रीति स्वभावसे ही दिव्य, चिन्मय तथा विभु है । कारण कि प्रीति सुखकी आशाको खा लेती है और नित नूतन रस प्रदान करती है । जो सुखकी आशासे रहित है, वह दिव्य है । जो दिव्य है, वह चिन्मय है और जो चिन्मय है वह विभु है । प्रीतिका उद्गम-स्थान अचाहमें है; क्योंकि चाहरहित हुए बिना प्रीतिका उदय होता ही नहीं । इस दृष्टिसे मुक्ति ही प्रीतिका उद्गम-स्थान है ।

प्रीति स्वभावसे ही दूरी तथा भेदकी नाशक है । इस कारण प्रीति देश-कालकी परिधिसे अतीत है ।

प्रीति रसरूप होनेसे आनन्दामृतवर्षिणी है अथवा यों कहो कि प्रीति आनन्दको भी आनन्दित करती है। प्रीतिमें ही समस्त साधनोंकी समाप्ति है। प्रीतिके बिना कभी किसीको रसकी उपलब्धि हो ही नहीं सकती। प्रीतिसे अभिन्नता होनेपर ही कामका नाश हो सकता है अथवा यों कहो कि अपनेको प्रीति स्वीकार करनेपर ही प्राणी कामरहित हो जाता है। कामका अन्त होते ही कामनाएँ स्वतः मिट जाती हैं। प्रीति प्रियतमको रस प्रदानकर प्रियतमसे अभिन्न हो जाती है। प्रीति प्रियतमका ही स्वभाव है और कुछ नहीं। जहाँ कहीं रसकी निष्पत्ति है, वहाँ किसी-न-किसी रूपमें प्रीतिका ही चमत्कार है। प्रीतिका उदय होता है पर अन्त नहीं, और न कभी पूर्ति ही होती है। प्रीतिमें प्रियतमसे भिन्न और किसीकी सत्ता नहीं है।

सभी मान्यताओंसे अतीत जो है, वही प्रीतिका आश्रय भी है। प्रीति सभीमें और सभीसे अतीतमें निवास करती है, परंतु किसी सीमित वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितिमें आबद्ध नहीं होती। यही प्रीति और आसक्तिमें भेद है। जिज्ञासा कामनाओंको खाकर स्वतः पूरी हो जाती है पर प्रीतिकी कभी पूर्ति नहीं होती। यही जिज्ञासा और प्रीतिमें भेद है। प्रीति प्रियतममें और प्रियतम प्रीतिमें निवास करते हैं। ये दोनों ही अनन्त हैं। प्रीति एकमें दो और दोमें एकताका विलक्षण दर्शन कराती है। प्रीतिकी अभिन्नता सदा रसरूप है।

ॐ आनन्द आनन्द आनन्द।

गाँधीशताब्दीके मङ्गल-प्रसङ्गमें गाँधीवाणी

[रामनाम-महिमा]

(१)

नामकी महिमाके बारेमें तुलसीदासजीने कुछ भी कहनेको बाकी नहीं रक्खा है। द्वादशाक्षरमन्त्र, अष्टाक्षर इत्यादि—सब इस मोहजालमें फँसे हुए मनुष्यके लिये शान्तिप्रद हैं, इसमें कुछ भी शंका नहीं है। जिससे जिसको शान्ति मिले, उस मन्त्रपर वह निर्भर रहे। परंतु जिसको शान्तिका अनुभव ही नहीं है और जो शान्तिकी खोजमें है, उसको तो अवश्य रामनाम पारस-मणि बन सकता है। ईश्वरके सहस्रनाम कहे हैं, उसका अर्थ यह है कि उसके नाम अनन्त हैं, गुण अनन्त हैं। इसी कारण ईश्वर नामातीत और गुणातीत भी है। परंतु देहधारीके लिये नामका सहारा अत्यावश्यक है और इस युगमें मूढ़ और निरक्षर भी रामनामरूपी एकाक्षर मन्त्रका सहारा ले सकता है। वस्तुतः राम उच्चारणमें एकाक्षर ही है और ॐकार और राममें कोई फरक नहीं है। परंतु नाममहिमा बुद्धिवादसे सिद्ध नहीं हो सकती है। श्रद्धासे अनुभवसाध्य है।

('कल्याण' भगवन्नामाङ्क)

(२)

'....................रामनामके प्रतापसे पत्थर तैरने लगे, रामनामके बलसे वानर-सेनाने रावणके छक्के छुड़ा दिये, रामनामके सहारे हनुमान्ने पर्वत उठा लिया और राक्षसोंके घर अनेक वर्ष रहनेपर भी सीता अपने सतीत्वको बचा सकी, भरतने चौदह सालतक प्राण धारण कर रक्खा; क्योंकि उनके कण्ठसे रामनामके सिवा दूसरा कोई शब्द न निकलता था। इसलिये तुलसीदासने कहा कि कलिकालका मल धो डालनेके लिये रामनाम जपो।

'इस तरह प्राकृत और संस्कृत दोनों प्रकारके मनुष्य रामनाम लेकर पवित्र होते हैं। परंतु पावन होनेके लिये रामनाम हृदयसे लेना चाहिये, जीभ और हृदयको एक-रस करके रामनाम लेना चाहिये। मैं अपना अनुभव

सुनाता हूँ । मैं संसारमें यदि व्यभिचारी होनेसे बचा हूँ तो रामनामकी बदौलत । मैंने दावे तो बड़े-बड़े किये हैं परंतु यदि मेरे पास रामनाम न होता तो स्त्रियोंको मैं बहिन कहनेके लायक न रहा होता । जब-जब मुझपर विकट प्रसंग आये हैं, मैंने रामनाम लिया है और मैं बच गया हूँ । अनेक संकटोंसे रामनामने मेरी रक्षा की है । (हिंदी नवजीवन ३० । ४ । २५)

(३)

'............करोड़ोंके हृदयका अनुसंधान करने और उनमें ऐक्य भाव पैदा करनेके लिये एक साथ रामनामकी धुन-जैसा दूसरा कोई सुन्दर और सबल साधन नहीं है । कई नौजवान इसपर एतराज करते हैं कि मुँहसे रामनाम बोलनेसे क्या लाभ, जब कि हृदयमें जबर्दस्ती रामनामकी धुन जाग्रत् की ही नहीं जा सकती। लेकिन जिस तरह गायनविद्या-विशारद जबतक सुर नहीं मिलते, तबतक बराबर तार कसता रहता है और ऐसा करते हुए जैसे उसे अकस्मात् योग्य स्वर मिल जाता है, उसी तरह हम भी भावपूर्ण हृदयसे रामनाम-का उच्चारण करते रहे तो किसी-न-किसी वक्त अकस्मात् ही हृदयके छुपे हुए तार एकतान हो जायँगे । यह अनुभव मेरे अकेलेका नहीं है; कई दूसरोंका भी है । मैं खुद इस बातका साक्षी हूँ कि कई-एक नटखट लड़कोंका तूफानी स्वभाव निरन्तर रामनामके उच्चारणसे दूर हो गया और वे रामभक्त बन गये हैं, लेकिन इसकी एक शर्त है । मुँहसे रामनाम बोलते समय वाणीको हृदयका सहयोग मिलना चाहिये; क्योंकि भावनाशून्य शब्द ईश्वरके दरबारतक नहीं पहुँचते ।' (हिंदी नवजीवन ७ । ३ । २९) (क्रमशः)

भगवान्‌की रासलीला—एक चिन्तन

(स्कन्दपुराणमें श्रीमद्भागवत-माहात्म्य चार अध्यायोंमें वर्णित है । उसीके तीसरे अध्यायका यह प्रसङ्ग है । यादवोंके अन्तिम वंशज श्रीवज्रनाभ और पाण्डवोंके अन्तिम वंशज राजा परीक्षित्‌का एक बार कहीं समागम हुआ । वहीं श्रीउद्धवजीने प्रकट होकर तीस दिनोंतक श्रीमद्भागवतका माहात्म्य और श्रीमद्भागवतकी कुछ विशेष कथाएँ उनको सुनायीं । अन्तिम दिन (तीसवें दिन) उन्होंने रासलीलाका प्रसङ्ग भी उनको सुनाया । रासलीलाके उसी प्रसङ्गको किन्हीं एक प्रपञ्चविरक्त प्रेमी महानुभावने अपने भावोंके अनुसार विस्तारपूर्वक लिखा है । वही यहाँ उद्धृत किया जा रहा है ।—सम्पादक)

श्रीउद्धवजी कह रहे हैं—श्रीकृष्णकी अपार कृपासे अबतक २९ दिन कथा मैं सुना चुका । आज तीसवाँ दिन है, आज दिनभर यह कथा सुनायी गयी । आज ही कथाको विराम देनेका पूर्वसंकल्प था । अतः श्रीकृष्णकी परम मनोहारिणी समस्त लीलाओंकी मुकुट-मणिरूपा रासलीलाकी कथा सुनाकर ही कथाको विराम देना है । अस्तु—

शारदीय पूर्णिमाकी संध्या आयी । भगवान् अंशुमाली धीरे-धीरे पश्चिम गगनमें अस्त हो गये तथा निर्मल गगनमें पूर्ण शशधर उदित हुए । शुभ्र ज्योत्स्नासे वृन्दावनका ज्योतिर्मय प्रान्तर, वनभूमि, वनमालती सब कुछ आलोकित हो उठा । व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर नन्दमहलके शयनागारमें सोये हुए थे । प्रतिदिनकी भाँति दिन भर वनमें गाय चराकर संध्या समय लौटे थे । माँ यशोदा अपने प्राणधनको विविध प्रकारसे लाड़ लड़ाकर खिला-पिलाकर शयनागारमें सुला गयी थी । गोचारणके परिश्रमसे थककर मेरा लाल सुखकी नींद सो रहा है, मेरे रहनेसे कहीं इसकी नींद टूट न जाय, यह सोचकर मैया शयनागारसे बाहर प्राङ्गणमें जा बैठी थी । शयनागारमें केवल श्यामसुन्दर थे । गवाक्ष-रन्ध्रसे नव समुदित पूर्णचन्द्रकी किरणें शयनागारको भी उद्-भासित करने लगीं । व्रजेन्द्रनन्दनके मुदित नयनोंका

भी स्पर्श करने लगीं। मानो ये किरणें आज कह रही थीं—'व्रजनयनानन्द! एक बार आँखें खोलकर हमारे पतिदेवकी ओर देखो—कुछ ही क्षण पहले तुम्हारी प्रियतमा श्रीराधाके मुखचन्द्रकी छायाका एक कण-सौन्दर्य लेकर हम अपने पतिदेवको अलंकृत कर आयी हैं। उन्हें आज अप्रतिम सुन्दर बना आयी हैं। ऐसा इसलिये किया है कि कदाचित् ऐसे चन्द्रको देखकर तुम्हारे अन्तर्हृदयमें श्रीराधा-मुखचन्द्रकी कोई अभिनव भावना जाग उठे। तुम्हारा चिन्मय आनन्दरससिन्धु उमड़ पड़े और उसकी तरल तरङ्गोंमें विश्वके अचर-चर सभी प्राणी बह जायँ।'

वज्रनाभ! तुम्हारे प्रपितामह आनन्दकन्द श्रीकृष्ण-चन्द्र गगनस्थ चन्द्रकी शीतल किरणोंका स्पर्श पाकर सचमुच ही आज जाग उठे तथा शारदीय शशधरपर दृष्टि डालते ही श्रीराधाकी स्मृतिमें निमग्न हो गये। इसी समय अचिन्त्य-लीला-महाशक्तिने शुभ अवसर समझकर व्रजेन्द्रनन्दनको संकेत किया—'स्वामी! आजकी रात्रिके लिये ही आपने गोपकुमारियोंको वचन दिया था कि आज मेरे साथ इन रात्रियोंमें, शारदीय रात्रियोंमें—तुम स्वरूप-क्रीड़ा करोगी। इतना ही नहीं, उन असंख्य व्रजसुन्दरियोंकी मिलनोत्कण्ठा आज चरम सीमापर पहुँच गयी है, अब विलम्बका अवसर नहीं। इसीलिये वृन्दावन-मञ्चको तदनुरूप साजसे सजाकर प्रतीक्षामें खड़ी मल्लिका आदि पुष्पोंसे परिशोभित शारदीय रजनीकी ओर दृष्टिपात करके मुझे कृतार्थ करें।' सचमुच व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर शय्यासे उठ बैठे। एक क्षणमें ही वह बाल्य-विग्रह अन्तर्हित हो गया तथा उसके स्थानपर कोटि-कोटि मदनमोहन सौन्दर्य धारण किये हुए कैशोर-विग्रह नटवर श्यामसुन्दरका आविर्भाव हुआ। देखते-ही-देखते नटवरनागर चन्द्रज्योतिसे उद्भासित शरद-वसन्त परिशोभित यमुना-पुलिनपर जा पहुँचे और कदम्बकी डाल हाथमें लेकर मन्द-मन्द मुस्कराते हुए वनकी शोभा देखने लगे। कुछ क्षण चन्द्रकी ओर देखकर और कुछ क्षण वनकी ओर निहारकर किसी चिन्तामें निमग्न हो गये। उस समय व्रजराजनन्दनके स्मृतिपटमें अनन्त, असंख्य व्रजसुन्दरियोंके उत्कण्ठाभरे मुखारविन्द प्रकट होने लगे। प्रियतमसे मिलनेके लिये असीम व्याकुलताभरी उनकी प्रत्येक भाव-भङ्गिमा व्रजराजनन्दनके हृत्पटपर प्रस्तुत होने लगी। व्रज-सुन्दरियोंकी असंख्य भाव-धाराएँ एक साथ व्रजराज-नन्दनको घेरकर प्रवाहित होने लगीं। इस भावधारामें व्रजराजनन्दनके लिये स्थिर रहना असम्भव हो गया। वे स्वयं भी इसमें बरबस बह चले। वज्रनाभ! तुम्हारे प्रपितामह स्वयं भगवान् हैं। सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान, सम्पूर्ण वैराग्य—ये सब इनमें निरन्तर रहते हैं। वे आप्तकाम हैं, नित्यतृप्त हैं। ऐसी कोई वस्तु नहीं जो इन्हें प्राप्त न हो। ऐसा कोई सुख नहीं जो इनमें निरन्तर वर्तमान न रहता हो। ये भला, किस वस्तुकी इच्छा करें; किस सुखकी अभिलाषा करें? पर बलिहारी है व्रज-सुन्दरियोंके प्रेमकी, जिसने पूर्णकाम, नित्यतृप्तमें भी व्रजसुन्दरियोंसे रस प्राप्त करनेकी इच्छा उत्पन्न कर दी। इच्छा ही नहीं—व्याकुलता पैदा कर दी।

व्रजराजनन्दन सोचने लगे—'अहो! ये व्रज-सुन्दरियाँ सब कुछ त्यागकर, सब कुछ भूलकर एकमात्र मुझे चाहती हैं। इनमें निज-सुख-वासना—कल्पनाकी गंध भी नहीं है। ये केवल मेरा सुख चाहती हैं। इनके प्रेममें कोई हेतु नहीं। ये केवल प्रेमके लिये ही प्रेम करती हैं। मेरे प्रति ऐसा विशुद्ध प्रेम अनन्त विश्वमें व्रजसुन्दरियोंके सिवा और किसीका अबतक न हुआ, भविष्यमें भी नहीं होगा। इस प्रेमका प्रतिदान तो मैं दे ही नहीं सकता। अनादिकालसे मेरी यह प्रतिज्ञा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
(गीता ४ । ११)

'जो मुझे जिस भावसे भजता है, मैं उसे उसी भावसे भजता हूँ।' पर यह मेरी प्रतिज्ञा आज टूट गयी। इनके प्रेमके अनुरूप प्रेम मैं नहीं कर सका। इनमें-से प्रत्येक व्रजसुन्दरीके स्मृतिपटमें एकमात्र मैं हूँ। पर मेरा अन्तःकरण तो अनन्त-अनन्त स्मृतियोंसे भरा पड़ा है। सबको भूल भी जाऊँ तो भी इन अभिन्न व्रजसुन्दरियोंको तो भूल नहीं सकता। इन अनन्त असंख्य गोपियोंकी स्मृति बनी ही रहेगी। फिर इनके प्रेमके अनुरूप मेरा प्रेम कहाँ हुआ ? हाँ! यदि मैं अपनी समस्त भगवत्ताको भूलकर सर्वथा इनके प्रेमके अनुरूप भावसे भावित होकर इनका प्रेम ग्रहण करूँ, इन्हें अपने प्रेमका दान दूँ तो मेरे कर्तव्यकी यत्किञ्चित् पूर्ति सम्भव है। इनके प्रेमका ऋण तो मैं कभी चुका ही नहीं सकता। अपने आपको इनके भावानुरूप यन्त्र बनाकर किसी अंशमें केवल मात्र इनके प्रेमको ग्रहण करनेके अनुरूप बन सकूँगा। अतः आज यही करना है। इन्हें बुलाकर सब कुछ समर्पण कर देना है।' यों विचार करके स्वयं भगवान् व्रजराजनन्दनने अपनी अचिन्त्य महाशक्ति योगमायाका विकास किया तथा व्रजसुन्दरियोंको अपने निकट बुलाकर इनके भावानुरूप इन्हें आनन्द देनेकी इच्छा की।

'तब लीनी करकमल जोगमाया-सी मुरली।
अघटित घटना चतुर बहुरि अधरासव जुरली॥
जाकी धुनि तैं अगम निगम प्रगटे बड़ नागर।
नाद ब्रह्मकी जननि मोहिनी सब सुख सागर॥
नागर नवल किसोर कान्ह कल गान कियौ अस।
बाम बिलोचन बालन को मन हरन होइ जस॥

एक क्षणमें सारा व्रजमण्डल वंशीध्वनिसे पूर्ण हो गया। स्खलितस्रोता पयस्विनीकी धाराकी तरह व्रज-सुन्दरियाँ अपने प्रियतम श्यामसुन्दरसे मिलनेके लिये दौड़ पड़ीं। क्यों नहीं दौड़तीं, आजकी वंशीध्वनि व्रजाङ्गनाओंका मन हरण करनेके लिये ही हुई थी। अपने स्वामीकी आज्ञासे वंशीने व्रजाङ्गनाओंके श्रीकृष्ण-प्रेम-परिभावित चित्तका अपहरण किया। अपहरण कर वह स्वामीकी ओर दौड़ीं। व्रजाङ्गना भी ठीक ध्वनिके पीछे-पीछे ही दौड़ी, मानो चित्तचोर-को ढूँढ़ने निकली हों। चित्तचोर दूर थोड़े ही थे। क्षणमें ही जा पहुँचीं। उन्हें दीखा—अहा! मेरे प्रियतम श्यामसुन्दर श्रीकृष्णने ही वंशीनादसे मेरे चित्तको खींचा है। चित्त तो पहले ही खिंच चुका था। इस बार इसी पंक्तिमें बँधा शरीर भी खिंच आया। अविलम्ब खिंच आया। दूध दुह रही थी, वह पूरा नहीं दुहा गया। भोजन बना रही थी, पर भोजन चूल्हेपर ही रह गया। सेवा कर रही थी, सेवा भूलकर दौड़ पड़ी। और तो क्या ? शृंगार कर रही थी, शृंगार अधूरा ही रह गया, बल्कि विकृत शृंगार करके प्रियतमके पास दौड़ पड़ीं।

वज्रनाभ! श्रीकृष्ण एवं व्रजसुन्दरियाँ दो नहीं हैं। श्रीकृष्ण ही व्रजसुन्दरियाँ हैं, व्रजसुन्दरियाँ ही श्रीकृष्ण हैं। पर यह तो उनकी अनादि अनन्त प्रेमलीला है। अनादिकालसे होती आ रही है, अनन्तकालतक होती रहेगी। अस्तु, व्रजेन्द्रनन्दनकी इस बार भी ठीक उसी तरह सब चेष्टा हो रही थी। बड़ी कठिन परीक्षा व्रजसुन्दरियोंकी हुई और व्रजसुन्दरियाँ भी परीक्षामें पूर्णतया उत्तीर्ण हुईं। व्रजराजसुन्दर व्रजसुन्दरियोंको संनिकट पाकर कृतार्थ हुए। व्रजसुन्दरियाँ व्रजेन्द्रनन्दन-को पाकर कृतार्थ हुईं। मिलनके बाद वियोगलीलाका होना अनिवार्य है, आवश्यक है। देखते-देखते ही व्रजेन्द्रनन्दन अन्तर्धान हो गये। इन्हें ढूँढ़ती हुई व्रजसुन्दरियाँ विक्षिप्त हो गयीं। वृक्षोंसे, लताओंसे—इनका

पता पूछने लगीं। भावावेश और भी बढ़ता गया और अपनेको ही श्रीकृष्ण समझकर वे इन्हींकी तरह लीला करने लगीं। कभी आवेश शिथिल होता तो 'हा प्रियतम! हा प्राणनाथ! कहाँ हो?'—कहकर रोने लगतीं। एक क्षण एक कल्पके समान बीतने लगा।

वियोग-वेदनाका उफान चरम सीमापर पहुँचकर कातर वाणीके रूपमें शिथिल होनेका मार्ग ढूँढ़ने लगा। वे करुण कण्ठसे गाने लगीं—

कहन लगीं, अहो कुँवर कान्ह ब्रज प्रगटे जब तें।
अवधिभूत इंदिरा इहाँ क्रीडत हैं तब तें॥
नयन मूँदिवौ महाअस्त्र लै हाँसी-फाँसी।
मारत हौ कित सुरतनाथ! बिनु मोलकी दासी॥
विष-जलहू तैं, व्याल-अनल तैं दामिनि-झर तैं।
क्यों राखीं, नहिं मरन दई, नागर! नगधर तैं॥
जब तुम जसुदा-सुवन भए, पिय अति इतराने।
बिस्व-कुसल के काज बिधिहिं बिनती करि आने॥
अहो मीत! अहो प्राननाथ! यह अचरज भारी।
अपने जन कौं मारि करौ किन की रखवारी?
जब पसु चारन चलत चरन कोमल धरि बनमें।
सिल-त्रिन-कंटक अटकत-कसकत हमरे मनमें॥
प्रनत मनोरथ करन चरन सरसीरुह पियके।
का घटि जैहै नाथ! हरत दुख हमरे हिय के॥
फनी-फनन पर अरपे, डरपे नहिन नैकु तब।
छतियन पै पग धरत डरत कत, कुँवर कान्ह अब॥
जानति हैं हम तुम जु डरत ब्रजराज-दुलारे।
कोमल चरन-सरोज, उरोज कठोर हमारे॥
हरें-हरें पग धरिय, हमैं पिय निपट पियारे।
कत अटवी-महि अटत, गड़त तृन-कूर्प अन्यारे॥

गोपियोंकी व्यथा पूर्ण सीमापर पहुँच चुकी थी। व्रजेन्द्रनन्दनके लिये भी अब अलग रहना सम्भव नहीं था। उसी क्षण साक्षात् मन्मथ-मन्मथ प्रकट हो गये। व्रजसुन्दरियाँ अपने प्रियतम प्राणधनको पाकर आनन्दमें निमग्न हो गयीं। विविध दिव्य रसमयी रस-चर्चाके पश्चात् यमुना-पुलिनपर मण्डलाकार रास आरम्भ हुआ। देव-दुन्दुभियाँ बज उठीं। आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। रासके तालपर नृत्य करती हुई वनाधिदेवी वृन्दा गाने लगी। इन्हींके स्वरमें स्वर मिलाकर गगनस्थ देवाङ्गनाएँ भी गाने लगीं—

आज गोपाल रास रस खेलत
पुलिन कल्पतरु तीर री सजनी!
सरद बिमल नभचंद बिराजत,
रोचत त्रिविध समीर री सजनी!
चम्पक बकुल मालती मुकुलित
मत्त मुदित अलि कीर री सजनी!
लेन सुगंध राग-रागिनि को
ब्रज-जुवतिन की भीर री सजनी!
मघवा मुदित निसान बजावत
व्रत छाँड्यो मुनि धीर री सजनी!
हित हरिबंस मगन मन स्यामा
हरत मदन मन पीर री सजनी!

गाते-गाते उद्धव जोरसे 'जय हो, जय हो', पुकार उठते हैं। फिर अतिशय उल्लासके स्वरमें कहते हैं—'महर्षियो! वज्र! इधर देखो, रासमण्डलमण्डित वृन्दावन-विहारी प्रकट हो गये। जय हो, जय हो।' सभी उधर देखते हैं। रासमण्डलमण्डित वृन्दावनविहारीकी अनुपम झाँकी करके सभी प्रेममें डूब जाते हैं। पूर्ण ध्वनिसे एक साथ ही कीर्तन आरम्भ होता है—

जै हरि गोविन्द राधे गोविन्द।
जै हरि गोविन्द राधे गोविन्द॥

दाईका तालाब

[एक सच्ची कहानी]

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

दरभंगाके एक घरमें बच्चेका रुदन सुनायी पड़ रहा है। उसे चुप करनेके प्रयत्न बेकार हो रहे हैं। माँ-बाप तथा निकट खड़े हुए सम्बन्धी उस करुण रुदनसे व्यथित हैं।

नन्हेसे शिशुका रुदन किसे दुःखित नहीं करता! सभी उसे चुप करानेको प्रयत्नशील हैं, किंतु बालककी ॐ ॐ ॐ हृदयपर चोट कर रही है।

'क्या बात है? बच्चा क्यों चुप नहीं हो रहा है?'

सब ओरसे यही प्रश्न है और उसका उत्तर··· शिशुको दूध पिलानेके निष्फल प्रयत्न। शिशुकी माँके स्तनसे दूध नहीं उतर रहा है।

'ओफ! तो यह भूखे पेट रो रहा है! बिना माँके दूध शिशु बिलख रहा है।

नवजात शिशुके लिये माँका दूध ही जीवनका आधार है। यदि वह जीवनदायिनी अमृत-तुल्य महौषधि नहीं, तो वह क्योंकर चुप रह सकता है? शिशुके पेटमें किसीका दूध तो पहुँचना ही चाहिये। माँ टुकर-टुकर शिशुको निहार रही है, फिर अपने सूखे दूधविहीन स्तनोंको धिक्कार रही है। हाय! वह अपने शिशुको दूध पिलानेमें असमर्थ है। क्या करे अब!

बकरीका दूध दिया जाय!

बकरीका दूध भी माफिक न आया। बच्चा रोता रहा।

गायका दूध दिया गया, पर वह भी बच्चेने उलटी कर दिया।

डाक्टर चिन्तित हो बोले, 'यह बोतलसे दूध न पियेगा। यदि बच्चेका जीवन चाहते हैं, तो जल्दी किसी धायका प्रबन्ध कीजिये। यह स्तनसे ही दूध पियेगा। बोतलका दूध इसके लिये बेकार सिद्ध हो रहा है। बिना धायके न बचेगा यह!'

अब विषम समस्या उपस्थित हुई! है कोई औरत जो अपना दूध पिलाकर बच्चेके प्राण बचाये? किसी प्रकार कहींसे भी किसी भी मजदूरीपर धाय आनी चाहिये।

पर धायका प्रबन्ध कैसे हो? उसे इतनी जल्दी कैसे लाया जाय? कौन स्त्री अपने बच्चेके हिस्सेका दूध थोड़ेसे पैसोंके बदले दूसरेके बच्चेको पिलाये?

माँका वात्सल्य हिलोरें ले रहा था। वह अपने शिशुकी प्राणरक्षाके लिये बेचैन थी।

माँसे बच्चेका कारुणिक रुदन न देखा गया। वह बार-बार कोशिश करती कि किसी प्रकार उसके स्तनसे दूधकी दो बूँदें भी निकलें, किंतु एक भी बूँद दूध न निकला। बेचारी बड़ी निराश, बड़ी चिन्तित। हाय! यह बच्चा क्योंकर बचेगा? इसे कौन स्त्री दूध पिलाकर पालेगी? दाई तो आखिर दाई ही होती है। क्या वह माँके समान प्यारसे बच्चेको अपना स्नेह-दान देगी?

माँ बार-बार सोचती, किंतु निर्णय न कर पाती।

वह हर स्त्रीको इस आशासे देखती कि शायद कोई अपना दूध पिलाकर बच्चेको प्राण-दान दे दे। यदि ऐसे ही वह बिलखता रहा, तो मृत्यु निश्चित है। प्याससे बच्चेके ओंठ सूखने लगे थे। उसकी करुण प्रार्थनाको समझनेवाले हृदय वहाँ न थे। दूधका प्रबन्ध न हो सका!

जब कोई उपाय न हुआ, तब घरवाले चारों ओर किसी दाईकी तलाशमें भागे। कई गाँवोंमें तलाश हुई। क्या कोई ऐसी औरत है, जो अपने बच्चे-सहित घर छोड़ दरभंगाके इस परिवारमें चली आये? गाँवकी कई औरतोंसे बातचीत हुई, मोल-भाव हुआ, पैसेका प्रलोभन दिया गया, किंतु जल्दी ही दाईका प्रबन्ध न हो सका।

जब सब मानवप्रयत्न निष्फल हो जाते हैं, तब ईश्वरकी गुप्त सहायता रुके हुए रथको आगे बढ़ाती

है। हर भले कार्यमें दैवी सहायता मिलती रहती है। कुछ ऐसा ही करिश्मा यहाँ देखनेमें आया।

संयोगसे एक गाँवमें रोने-पीटनेकी ध्वनि सुनायी दी। पूछनेपर मालूम हुआ कि एक गरीब परिवारमें एक माताका शिशु चल बसा था। माँ करुण रोदन कर रही थी। 'हाय! मेरा लाल मैं कैसे उसके दूध पीनेसे उत्पन्न सुखका अनुभव कर सकूँगी। मेरा पहला शिशु भी इसी प्रकार चल बसा। यह दूसरा भी यों ही गया। हाय! मेरा शिशु! क्या मेरे स्तनोंमें भरा हुआ यह दूध फिर ऐसे ही सूख जायगा। मुझे अनुभव ही न हुआ कि शिशु माँका दुग्धपान कैसे करते हैं। मेरे स्तनोंमें प्यारका दूध, पर उसे पीनेवाला कोई नहीं।'

लोग आशासे वहीं ठहर गये। जब उस माताका दुःख कुछ शान्त हुआ, तब उसके पतिसे बातचीत हुई। 'क्या ये हमारे बच्चेको दूध पिलाकर जीवन-दान देंगी? बड़े परोपकारका काम है। कृपया निराश न करें।' बारंबार प्रार्थना दोहरायी गयी।

पति उदार विचारोंका था।

उसने सोच-विचारकर उत्तर दिया—

'पैसेके लिये नहीं, आपके पुत्रको दूध पिलाकर मेरी पत्नी अपने मातृत्वकी तुष्टि पायेगी। उसके मनमें ढाढ़स बँधेगा। मातृत्वकी क्षुधा स्त्रीके लिये सहज स्वाभाविक कर्म है। यह उसकी प्राकृतिक भूख है। उसे कोई भी बच्चा चाहिये जिसे वह दूध पिला सके।'

'आपकी बड़ी भारी कृपा है। आप बच्चेको नये प्राण दे रही हैं। आपके दूधका मूल्य पैसोंमें नहीं चुकाया जा सकेगा।'

धायके रूपमें वह नारी आ गयी। दाईने माताके समान वात्सल्यसे ही शिशुको अपना दूध पिलाया। बच्चा धीरे-धीरे उस दूधसे परिपुष्ट हो विकसित होने लगा। उसके अस्थिपिंजरवत् शरीरमें मांस आ गया। उसमें रक्तका सौन्दर्य नजर आने लगा।

ईश्वरकी कुछ ऐसी कृपा हुई कि दाईका दूध इस बच्चेको माफिक बैठ गया। बच्चा स्वस्थ और सुन्दर होने लगा। उसकी किलकारी दोनों नारियोंको स्वर्गका सुख देती थी।

माँ दाईसे प्रायः कहा करती—'तूने मेरे पुत्रकी जान बचा दी। यदि तू दयाकर समयपर इसे न सँभालती, तो दूधके अभावमें यह कमीका मर गया होता। तेरे दूधसे ही यह पलकर बड़ा हो रहा है। इसके प्रत्येक रग-रेशेमें तेरा ही दूध तो चमक रहा है। मैं तो केवल जन्म देनेवाली माँ हूँ, दूध पिला-पिलाकर प्राण देनेवाली असली माता तो वस्तुतः तू ही है।'

दाई कहती—'माँजी! मैं तो केवल स्नेहवश इस बच्चेको पाल रही हूँ। इसे अपने स्तनका दूध पिलानेसे मुझे ऐसा अनुभव होता है, जैसे यह स्वयं मेरा ही शिशु हो। कितना दुलारा है यह शंकर।'

'नहीं, नहीं, तुम ही इसे प्राणदान करनेवाली ममतामयी माँ हो। तुमने मेरे बालकको जो स्नेहयुक्त दूध पिलाया है, उसका कोई मोल नहीं दिया जा सकता। यह ऐसा उपकार है, जिसका बदला न मैं दे सकती हूँ और न यह लड़का ही। वह दिन कितना मधुर होगा, जब यह बालक कुछ कार्य कर दिखायेगा। एक दिन शंकर बड़ा होगा, पढ़ेगा, लिखेगा, विद्वान् बनेगा, पैसे कमायेगा।' माँ कहती।

'अहह! वह दिन मेरे लिये भी कितना शानदार होगा' दाई उत्तर देती, 'यह पढ़ना-लिखना, यह विद्वत्ता, यह चमत्कार, यह प्रसिद्धि, सब कुछ मेरे दूधके कारण ही तो होगी। मेरा दूध—मुझे अपने पिलाये हुए दूध-पर बड़ा गर्व है। दूध पिलानेके कारण मैं भी शंकरको अपना पुत्र समझती हूँ।' ऐसा कह प्यारसे दाई शिशुका चुम्बन कर लेती और आँचलमें छिपा लेती।

'सचमुच शंकर तेरा ही पुत्र है। भला तेरे पिलाये दूधका मैं क्या मूल्य दे सकती हूँ!'

'मुझे अपने दूधका दाम नहीं चाहिये। बारंबार दूधके मूल्यकी बात न कहिये।' 'पर मैं तो कुछ देना चाहती हूँ। कुछ तो उऋण हूँ तुम्हारे बोझसे!' 'फिर देखा जायगा। समय आने दीजिये।'

'नहीं, नहीं ! कुछ तो मिलना ही चाहिये। सोचती हूँ क्या दूँ ? अक्ल परेशान है।' हँसकर दाई बोली, 'मैं आपसे नहीं, शंकरसे ही कुछ माँगूँगी। उसकी कमाईमें मेरा हिस्सा होगा।'

माँ व्यंगपूर्वक कहती, 'बड़ा होनेपर इसका विवाह हो जायगा। फिर यह हम दोनोंके काबूसे बाहर हो जायगा। जो कुछ है, अभी दे देना चाहिये।'

'नहीं, नहीं, अभी दाम देनेकी क्या जल्दी है। अपने पुत्रसे क्या मोल लूँगी भला ?' दाई कुछ भी लेना न चाहती थी। बार-बार इन्कार करती थी।

उधर माँ कुछ-न-कुछ देनेपर तुली हुई थी। जोर देकर कहने लगी—

'अच्छा एक बात है। मेरा शंकर जो पहली कमाई लायेगा, सो तेरी होगी।' 'पहली कमाई मेरी ! माँजी, यह आपने क्या कहा ! मुझे यह कुछ न दे, तो भी इसकी उन्नति और सम्मान देखकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता होती रहेगी।'

'हाँ, कहीं पहली कमाई मात्रसे मैं उऋण थोड़े ही हो जाऊँगी। मेरे शंकरको जो दूध पिलाया है, उसका आभार मैं आजन्म मानती रहूँगी।' कहते-कहते शंकरकी माँ भावातिरेकसे गद्गद हो उठी।

× × ×

धीरे-धीरे शंकर बड़ा होने लगा।

बालकसे विकसित होकर उसने किशोर अवस्थामें पाँव रक्खा। पता नहीं क्या बात है जो बच्चे शुरूमें अभाव और कष्टोंमें पलते हैं, वे ही बड़े होकर महापुरुष निकलते हैं। मुसीबतें उनको पर्वतकी तरह मजबूत बना देती हैं। प्रतिकूलताओंसे वे सफलतापूर्वक टक्करें लेते हैं। कठिनाइयाँ उनका जीवन-मार्ग नहीं रोक पातीं।

शंकर पढ़नेमें कुशाग्रबुद्धि निकला। उसे अपनी योग्यता बढ़ानेमें विशेष अभिरुचि थी। वह स्कूलमें पढ़नेके अतिरिक्त बचे हुए सारे समयको स्वाध्यायमें लगाया करता था। प्रतिदिन कुछ-न-कुछ पढ़ते रहने और अपना ज्ञान-कोष बढ़ाते रहनेके कारण शंकर बुद्धिमान् होता गया।

शंकरने अनुभव किया कि जीवनके विकासके लिये पुस्तकोंका पठन-पाठन, चिन्तन और उनपर आचरण करना बहुत जरूरी है। स्वाध्यायके अभावमें कोई भी व्यक्ति महान् नहीं बन सकता। प्रतिदिन नियमपूर्वक सद्ग्रन्थोंके अध्ययन करते रहनेसे उसकी बुद्धि तीव्र होने लगी, उसका विवेक बढ़ने लगा और अन्तःकरण शुद्ध हो गया। वह बाहरके कलुषित वातावरणसे बचकर सारे दिन अपने मनको सद्ग्रन्थोंके अध्ययनमें लगाये रहता था। उत्तम ग्रन्थोंके अच्छे संस्कारोंसे शंकर विद्वान् हो गया।

स्वाध्याय, चिन्तन, पठन-पाठन, उच्च विचारधारामें रहनेके कारण मनुष्यके अन्तःपट खुल जाते हैं, जिससे वह मामूली स्तरपर पड़े हुए क्षुद्र सांसारिक लोगोंकी कोटिसे ऊँचा उठ जाता है। आत्माद्वारा परमात्माको पहचाननेकी जिज्ञासा बलवती होती रहती है। स्वाध्यायशील व्यक्तिका जीवन अपेक्षाकृत अधिक पवित्र हो जाता है। ग्रन्थोंमें संनिहित सद्वाणी तो अपना प्रभाव एवं संस्कार डालती ही है, साथ ही अध्ययनमें रुचिमान् होनेसे व्यक्ति अपना शेष समय भी पढ़नेमें लगाता है। शंकर मिश्र या तो अपने कमरेमें बैठा हुआ एकान्त अध्ययन किया करता था अथवा किसी पुस्तकालय या वाचनालयमें अखबारोंमें उलझा रहता था। उसके पास ऐसा कोई भी फालतू समय नहीं रहता था जिसमें इधर-उधर व्यर्थ गप्प लड़ावे या सिनेमाके इर्द-गिर्द फिरे। दूषित वायु-मण्डलमें अवाञ्छनीय कुसंस्कार ग्रहण करे।

यह संसार कर्मभूमि है। कठोर परिश्रमके फलस्वरूप एक दिन वह लड़का संस्कृतका उद्भट विद्वान् हो गया। शंकर मिश्रकी विद्वत्ताकी प्रसिद्धि आसपास सर्वत्र फैल गयी।

शंकर मिश्रके काव्यकी प्रशंसा होने लगी। स्वाध्यायके फलस्वरूप उसके काव्यमें बड़ी गहराई थी। नयी-नयी जानकारी, मौलिक विचारधारा और अभिनव तर्कोंकी प्रधानता थी। उसके मुँहसे काव्यपाठ सुनकर श्रोता मन्त्रमुग्ध हो उठते थे और उसका तेजपूर्ण मुखमण्डल देखते ही रह जाते थे।

शंकर मिश्र अपनी काव्य-सम्पदाके लिये अपने क्षेत्रमें विख्यात हो गये। लोग दूर-दूरसे उनसे मिलने और काव्य-पाठ सुनने आते। उनके ललित पदोंकी लहरमें श्रोता बह जाते।

पदोंमें उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, उपमा और वक्रोक्ति आदि अलंकारोंका प्रयोग देखकर पाठक दंग रह जाते। उनके काव्यमें सभी रसोंका उत्कर्ष पाया जाता था। भावपूर्ण स्थल चुननेमें उन्होंने काव्य-कौशलका परिचय दिया था। शील और सौन्दर्यका समन्वय कर उन्होंने उत्तम आदर्श प्रस्तुत किये थे। उनकी कवितामें लोकहितकी उदात्त भावना भी कार्य कर रही थी।

एक दिन राजाने कविवर शंकर मिश्रकी ख्याति सुनकर उन्हें बड़े आदरसहित दरबारमें आमन्त्रित किया।

शंकर मिश्रकी काव्य-माधुरीपर समस्त दरबार श्रीकृष्णकी वंशीकी तरह झूमने लगा। राजाने काव्य-सुधापर प्रसन्न होकर अपने गलेका मूल्यवान् हार उतारकर कविको उपहारमें दे दिया।

कविकी यही पहली कमाई थी। उसका काव्य सराहा गया था, यह उसके लिये गर्वका विषय था।

उस दिन कविके हर्षका वर्णन करना कठिन था।

वे आनन्दातिरेकमें मस्त हो माँके पास आये। गद्गद कण्ठसे बोले—

'माँ! राजाने मुझे काव्यपर मुग्ध हो आज यह हार इनामके रूपमें दिया है। आप कहती थीं कि कुछ कमाकर नहीं लाता, सारे दिन काव्य-रचनामें ही लगा रहता है। व्यर्थ समय नष्ट किया करता है। यह देखो कीमती हार। उम्रभरकी कमाई इसमें आ गयी है। कितना मूल्यवान् है! कितनी बड़ी कमाई है यह!'

'शंकर! यह तुम्हारी पहली कमाई है न?'

'हाँ, माताजी, पहली ही बारमें लाखोंकी कीमतका यह हीरोंका मूल्यवान् हार है।'

लाखोंकी कीमतका हार—राजाका मूल्यवान् हार—इसमें तो एक-से-एक कीमती रत्न जड़े हुए हैं। राजा कोई साधारण वस्तु नहीं रखते। इसका मूल्य पता नहीं क्या होगा। इसे बेचकर······।

'हाँ माँ, यदि इसे बेंच दें, तो हम पलक मारते ही आलीशान महलमें निवास कर सकते हैं, राजसी वस्त्र धारण कर सकते हैं, स्वादिष्ट भोजन ग्रहण कर सकते हैं, धनाढ्योंमें हमारी गिनती हो सकती है। जरा देखो तो कितना खूबसूरत दृष्टिगोचर होता है। राजाने कितना आकर्षक हार मुझे उपहारमें दिया है। अहह!'

शंकर मिश्र गर्वसे सिर ऊँचा किये खड़े थे। उन्हें अपनी कविताका कद्रदान मिल गया था। अपनी कलाकी परखपर कौन हर्षित नहीं होता?

'लेकिन बेटा! यह पहली कमाई—यह मूल्यवान् हार तेरा या मेरा नहीं है। इसपर और किसीका अधिकार है।'

'क्यों, क्या यह मेरी काव्य-रचनाका पुरस्कार नहीं है?'

'सो तो है, पर मैं तेरे बचपनमें ही किसी दूसरेको दे चुकी हूँ।'

'मेरे कमानेसे पूर्व ही कमाई किसी दूसरेको दे चुकी हो—यह कैसे हुआ? यह किसका है माँ?'

माँ थोड़ी देरके लिये चुप हो गयी।

आवेग, उद्वेग, व्यग्रता और मानसिक अस्त-व्यस्तताने उसे आगे कहनेसे रोक दिया।

अतीतकी एक स्मृति उसके मानस-पटलपर उभर उठी।

'बेटा! जब तू शिशु था, तो मेरे दूध नहीं उतरता था। तुझे पालनेके लिये दाई रखनी जरूरी हो गयी। वह दाई मामूली स्त्री नहीं थी, उसे पैसेका लालच न था। वह किसी भी दामपर अपना स्नेह बेचनेको तैयार न हुई। उसने माताके समान अत्यन्त प्रेमसे तुझे अपना दूध पिला-पिलाकर पाला था। तभी मैंने उसे वचन दिया था कि यह बच्चा जीवित बच गया और कमाई करने लगा, तो जो पहली कमाई लावेगा, सो तेरी होगी।'

ओह! तो यह रहस्य आज मुझे विदित हुआ।

'यह हार तेरी उस धाय माँका है! उसे ही मिलना चाहिये।'

दाईकी ढूँढ़-भाल हुई। 'मेरा शंकर कमाई करने लगा!' यह सुनकर वह घर आयी।

'यह हार तुम्हारे शंकरकी पहली कमाई है। बहिन, इसे स्वीकार करो।'

'लेकिन मैं हार लेकर क्या करूँगी?' दाईने लेनेसे इन्कार किया।

'कुछ भी करना। मैं तो वचनका पालन करूँगी। वचनको पलटनेमें भारतीय नारीका गौरव जाता है।'

उसने जबरदस्ती वह हार दाईको दे ही दिया।

'मैं नहीं लूँगी। मुझे हार पहनना थोड़े ही है। आप इसे वापिस लीजिये।'

लेकिन शंकर मिश्रकी माँ नहीं मानी। कहने लगी—'सत्कर्मोंकी पुण्य प्रवृत्ति कभी-कभी ही पैदा होती है। दूसरेका ऋण उतारनेका उत्साह भगवान्‌की शुभ प्रेरणासे ही मिलता है, अन्यथा मनुष्य लालचके वशमें होकर सदा ही स्वार्थ और पापकी बात सोचनेमें दिन गुजारता है। इसलिये परमार्थकी पुण्य प्रवृत्तियाँ जब कभी उत्पन्न हों, तो उन्हें कार्यान्वित करनेके लिये साहसका प्रयोग कर डालना चाहिये। बहिन! इस पहली कमाईपर तुम्हारा ही नैतिक अधिकार है। इसे ले लो। इससे मेरी आत्माको शान्ति मिलेगी।'

अन्तमें विवश होकर वह मूल्यवान् हार दाईको स्वीकार ही करना पड़ा। वह भी परोपकारी वृत्तिकी स्त्री थी।

'भगवान्‌ने इस हारके माध्यमसे मुझसे कोई पुण्य कार्य करवानेकी योजना सोच रक्खी है।' वह सोचने लगी, 'सत्कर्म करनेमें परिस्थितियाँ नहीं, आदमीकी भावना ही प्रधान होती है। परोपकारकी इच्छा प्रबल है, तो मुझ-जैसी निर्धन और आर्थिक दृष्टिसे असमर्थ दीखनेवाली स्त्री भी कुछ स्थायी कार्य कर सकती है—असाधारण और आश्चर्यजनक परिणाम पैदा कर सकती है—श्रेष्ठ सत्कर्म आदमीसे हमेशा नहीं बन पड़ते। उनमें कितनी ही बाधाएँ आ खड़ी होती हैं। मनुष्यका लालची और स्वार्थी मन कम बाधक नहीं है। ऊँच-नीच, सौ तरहका आगा-पीछा निकालकर यह सोचता है कि अभी तो अमुक आवश्यक काम पूरे करनेको शेष पड़े हैं। पहले उन्हें पूरा कर लें, दान-धर्म परोपकारके काम तो पीछे कभी भी हो सकते हैं। अभी क्या जल्दी पड़ी है? इस प्रकार मनके धोखेमें आकर मनुष्य सत्कर्मसे वञ्चित रह जाता है। मैं ऐसा नहीं करूँगी। नहीं, नहीं, मैं तुरंत इस हारको बेचकर उसके रुपयेसे कुछ परोपकारका काम शीघ्र करूँगी। शंकर मिश्रकी पुण्यकी कमाई किसी अच्छे काममें ही लगेगी।'

दाईने उस हारका मूल्य जँचवाया, तो सचमुच वह डेढ़ लाख रुपयेकी कीमतका बैठा।

डेढ़ लाख! इतना अधिक! वह हार एक बार फिर शंकरकी माताको लौटाने आयी। 'मैं परिश्रमके बिना यह धन न लूँगी'—वह बोली।

मामूली आदमी डेढ़ लाखका हार जरूर स्वीकार कर लेता।

पर शंकर मिश्र और उसकी माता बोले, 'इस रुपयेपर तुम्हारा ही पूर्ण अधिकार है। जो चाहो करो। हम तो वचनसे लौटनेको तैयार नहीं हैं।'

दाईने उस धनसे सूखे प्रदेशमें दरभंगाके समीप पानीका एक बड़ा तालाब बनवा दिया है।

आज भी वह दरभंगामें 'दाईका तालाब'के नामसे मौजूद है।

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते
प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते
शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत ॥
(ऋग्वेद ९। ८३। १)

'यह संसार शुभ मङ्गलदायक और मधुर पदार्थोंसे भरा पड़ा है, किंतु वे मिलते उन्हींको हैं जो तपके द्वारा उनका मूल्य चुकानेको तैयार रहते हैं। विवेकपूर्ण तपसे विद्या-धन आदिकी प्राप्ति होती है।'

जो तोकू काँटा बुवै, ताहि बोइ तू फूल

(लेखक—श्रीमोरेश्वर सीताराम पिंपले, बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

(१) प्रभुकी सृष्टिमें गुण-दोषानुसार मनुष्य तीन श्रेणियोंमें विभाजित है। एक श्रेणीका मनुष्य स्वभावतः ऐसा होता है कि वह अकारण ही, बिना किसी प्रयोजनके आपके मार्गमें विघ्न उपस्थित करता है। भले ही आप उसके मार्गमें कोई विघ्न उत्पन्न न करें, न ही उसके स्वार्थको किसी तरहकी हानि पहुँचावें, फिर भी वह आपके मार्गमें विघ्न उपस्थित करेगा, आपको हानि पहुँचानेका प्रयत्न करेगा, छिप-छिपकर आपपर आघात करेगा, आपकी निन्दा-बुराई करेगा, आपको हर तरहसे गिराने—क्षति पहुँचानेका छिप-छिपकर प्रयत्न करेगा। कोई कारण न होते हुए भी स्वभावतः ही उसे ऐसा करनेमें ही आनन्दका अनुभव होता है, प्रसन्नता होती है। वह इस विचारधाराका होता है कि 'बिल्ली खायेगी नहीं, तो गिरा तो देगी ही'। और कहीं सफलता उसके हाथ लग गयी, तब तो फिर वह फूले नहीं समाता, मानो विश्वपर विजय प्राप्त कर ली हो। ऐसे अकारण ही दूसरोंको हानि पहुँचानेवाले व्यक्ति प्रभुकी सृष्टिमें कनिष्ठ श्रेणीके अर्थात् नीच होते हैं, नराधम होते हैं। श्रीभर्तृहरिजीने इस श्रेणीके मनुष्यके सम्बन्धमें लिखा है—

ये विघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे।

'जो निरर्थक ही दूसरोंको क्षति पहुँचाते हैं वे कौन हैं ? मैं नहीं जानता।' सचमुच ही ऐसा व्यक्ति समझमें नहीं आता। आपपर कोई आघात करे, आपको कोई पीड़ा पहुँचावे, तब तो भला यह कह सकते हैं कि उसके इस कुकृत्यसे आपके मनमें भी प्रतीकार करनेकी प्रवृत्ति हुई, प्रतिशोधकी भावना जाग्रत् हुई; किंतु यदि कोई आपके मार्गमें आड़े आता ही नहीं, आपके स्वार्थको किसी तरहकी हानि पहुँचाता ही नहीं, तब तो कोई कारण ही नहीं कि आप उसके मार्गमें आड़े आयें अथवा उसे किसी तरहकी क्षति पहुँचायें। समझमें आये या न आये, किंतु सत्य तो यह है कि जगत्में ऐसे भी नीच नरपिशाच भी हैं। इस श्रेणीका मनुष्य बाह्यतः भले ही कुछ दिन फलता-फूलता दिखे, किंतु उसका पतन उतना ही निश्चित हैं जितनी मृत्यु। ऐसे व्यक्तिको आन्तरिक सुख-शान्ति प्राप्त हो ही नहीं सकती। वह उसकी पहुँचके बाहरकी वस्तु है। अपने कुकृत्योंसे, कुकर्मोंसे ही वह नारकीय जीवनकी सृष्टि करता है, इसी जन्ममें नरककी यातना भोगता है। ऐसा व्यक्ति सृष्टि-कर्ता प्रभुको अत्यन्त अप्रिय होता है। मनुष्य-जीवनका जो परम लक्ष्य 'भगवत्प्राप्ति' है, उसको ऐसा व्यक्ति कदापि प्राप्त नहीं कर सकता। उसका जीवन ही अनर्थमय तथा दुःखमय होता है। वह समाजमें, देशमें, हर स्थानमें निरादरकी, घृणाकी दृष्टिसे देखा जाता है। ऐसा व्यक्ति केवल अपने लिये ही नहीं, वरं अपने परिवारके तथा समाजके लिये भी अभिशाप सिद्ध होता है।

(२) दूसरी श्रेणी उन व्यक्तियोंकी होती है जो अकारण तो किसीके मार्गमें विघ्न उपस्थित नहीं करते, किसीको दुःख-दर्द नहीं पहुँचाते, किसीके स्वार्थको क्षति नहीं पहुँचाते, किसीकी निन्दा या बुराई नहीं करते, किसीको गिरानेका प्रयत्न नहीं करते। किंतु यदि कोई उनके मार्गमें बाधा देता है, विघ्न उत्पन्न करता है, उनके स्वार्थको धक्का पहुँचाता है, उन्हें हानि पहुँचाता है, उन्हें गिरानेका प्रयत्न करता है, तो वे भी उसका उत्तर उसी प्रकार देनेमें नहीं चूकते और वे भी बदलेमें उसी प्रकार विघ्न उपस्थित करते हैं; दुःख-दर्द पहुँचाने, स्वार्थको हानि पहुँचाने, निन्दा-बुराई करने और उसे गिरानेमें प्रवृत्त हो जाते हैं।

'शठे शाठ्यं समाचरेत्।' या 'मायाधारो मायिना वर्तितव्यः'—इस उक्तिके अनुसार इस श्रेणीके व्यक्तियोंका विश्वास है और उनकी यह विचारधारा है कि यदि कोई हमारे स्वार्थको धक्का पहुँचाता है, हमें पीड़ा पहुँचाता है, हमारी हानि करता है, हमें गिराता है तो हमारा भी कर्तव्य हो जाता है कि हम भी उसके स्वार्थपर आघात करें, उसे पीड़ा पहुँचायें, उसे हानि पहुँचायें और उसे गिरायें। 'जैसेको तैसा'—इस नीतिमें इनका विश्वास है। इस श्रेणीका मनुष्य मध्यम श्रेणीका मनुष्य कहलाता है। इस श्रेणीके पुरुषोंका मत है कि यदि कोई हमसे सद्व्यवहार करता है तो हमें भी उससे सद्व्यवहार

करना चाहिये, किंतु यदि कोई हमसे दुर्व्यवहार करता है तो हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम भी उसके साथ दुर्व्यवहार करें। यही न्यायोचित भी है। उनका तर्क यह है कि जो ऐसा नहीं करते, ईंटका जवाब ईंटसे नहीं देते, मायावीके साथ मायावी नहीं बनते, वे स्वाभिमान खो बैठते हैं, कायर और भीरु होते हैं, नपुंसक होते हैं और विपत्तियोंसे घिरे रहते हैं। आजका युग प्रायः इसी विचारधाराका युग है। वैसे तो देखनेमें भी यह विचार-धारा कुछ न्यायोचित-सी ही दीखेगी, किंतु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है।

(३) मनुष्य प्रभु-सृष्टिका शृङ्गार है। सृष्टिरचनाकी विशिष्ट कलाकृति है। दयालु प्रभुने मनुष्यको 'विवेक' प्रदान कर पशुतासे ऊपर उठाया है। इस देन-विशेषसे—इस वैशिष्ट्यसे दयालु प्रभुका प्रयोजन स्पष्ट है कि मनुष्य मानव बने, पशु नहीं। 'विवेक'—प्रभुकी इस विशेष देनका प्रयोग करे, पाशविक वृत्तिसे ऊपर उठे, मानव बने, सत्पुरुष—संत बने। यदि प्रभुका यह ध्येय न होता तो मनुष्यकी रचना भी पशु-तुल्य ही की जा सकती थी; किंतु ऐसा नहीं हुआ। अतः इस विशेष देनसे दयालु प्रभुका ध्येय स्वयं सिद्ध है कि विवेकका प्रयोग कर मनुष्य पशुतासे ऊपर उठे, मानव बने, सत्पुरुष—संत बने और संसारमें अपने सुकृत्यों, सत्कार्योंकी सुगन्ध बिखेरता रहे; विश्वका कल्याण कर, आन्तरिक सुख-शान्तिका उपभोग कर, अन्तमें मोक्षको प्राप्त करे।

(४) आप किसी जाते हुए सर्पपर ईंट या पत्थरका टुकड़ा फेंककर मारें और देखें—कहीं वह उसे लग गया और कहीं उसने आपको देख पाया, तो फिर आप दुनियाके किसी कोनेमें क्यों न छिपकर बैठें, वह आपको ढूँढ़ ही लेगा और प्रतिशोध लेकर ही रहेगा। उसी प्रकार आप किसी भैंस या बैलपर लाठी उठा उसे मारना चाहें तो वे अपने सींगोंका उपयोग कर आपको मारना चाहेंगे—प्रतिशोध लेंगे। पशुमें यह प्रवृत्ति—प्रतिशोधकी प्रवृत्ति स्वभावतः होती ही है। यह पशु-स्वभाव है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रभुने प्रतिशोधकी प्रवृत्ति पशुओंके लिये ही आयोजित की है, मनुष्यके लिये नहीं। प्रतिशोध पशुओंकी वस्तु है। मनुष्यको 'विवेक'से सुसज्जित कर, 'बुद्धियोग' प्रदान कर प्रभुने पशुतासे ऊपर उठाया है। अतएव मनुष्यका यह कर्तव्य है कि प्रभु-प्रदत्त विवेकका सदुपयोग कर वह पशुतासे ऊपर उठे। प्रतिशोधका त्याग कर मानव बने, सत्पुरुष—संत बने।

(५) इस तरह आप देखेंगे कि प्रतिशोधका सामर्थ्य रखते हुए भी जो मनुष्य प्रतिशोध नहीं करते—विघ्न, हानि, पीड़ा पहुँचानेवालेको विघ्न, हानि, पीड़ा नहीं पहुँचाते, ईंटका जवाब ईंटसे नहीं देते, वरं अपकारको प्रभुसे क्षमा करा, बदलेमें उपकार करनेमें प्रयत्नशील रहते हैं—इस तृतीय श्रेणीके मनुष्य श्रेष्ठ पुरुष या सत्पुरुष कहलाते हैं। ऐसा सत्पुरुष प्रभुप्रदत्त विवेकका सदुपयोग कर पशुतासे ऊपर उठता है। प्रतिशोध उसकी प्रवृत्ति नहीं। क्षमा, सहनशीलता, दया, धैर्य, परदुःखकातरता आदि सद्गुणोंसे वह विभूषित रहता है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' वह तो दूसरोंकी आत्माको भी अपना ही आत्मा समझता है। फिर प्रतिशोध किसका? अपने दाँतसे अपनी जीभ कट जानेपर क्या कोई अपने दाँतको तोड़ डालता है? उसे दण्ड देता है? इस श्रेणीके पुरुषोंकी विचारधारा होती है—

जो तोकूँ काँटा बुवै, ताहि बोइ तू फूल।

अर्थात् 'जो तेरे लिये काँटा बोये उसके लिये तू फूल बो।' जो तुझे पीड़ा, दुःख, दर्द, हानि पहुँचाये उसे तू सुख-लाभ पहुँचा। जो तेरी बुराई करे, उसकी तू भलाई कर। जो तुझे गिराये उसे तू हाथ पकड़कर उठा। अपकारका बदला उपकारसे दे। यह मानवका—सत्पुरुषका लक्षण है। यह पाठ तो हमें वृक्षोंसे भी मिलता है।

जो वाको पत्थर हने, ताहीको फल देत।

बेचारा वृक्ष, जो उसे पत्थर फेंककर मारते हैं, उन्हें मीठे सुस्वादु फल देता है। इसी तरह आप चन्दनके वृक्षको देखिये। कुल्हाड़ी उसे काटती है, किंतु वह बदलेमें उसे सुगन्ध देता है। भगवान् श्रीरामजीने भरतसे कहा है—

काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥

इन सृष्टिनियमोंसे भी यह सिद्ध है कि अपकारका बदला उपकारसे देना ही सत्पुरुषका लक्षण है। आजका युग भले ही इस विचारधारासे सहमत न हो, किंतु मनुष्यका कर्तव्य है कि वह इसी विचारधाराको ग्रहणकर

पशुतासे ऊपर उठे—सत्पुरुष—संत बनकर मानव-जीवनको सफल एवं सार्थक बनाये ।

(६) 'कीर्तिर्यस्य स जीवति ।'

जिस मनुष्यकी संसारमें कीर्ति होती है, वह सदैव जीवित रहता है, भले ही उसने पार्थिव शरीरका त्याग कर दिया हो । राष्ट्रपिता बापू आज हमारे-आपके बीच नहीं हैं, किंतु विश्वका बच्चा-बच्चा आज भी उनके नामसे परिचित है । सत्पुरुषकी कीर्ति अमर होती ही है । सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र आज संसारमें नहीं हैं, किंतु उनकी सत्यनिष्ठाकी कीर्ति आज भी विश्वके कोने-कोनेमें गूँजती है । राष्ट्रपिता बापूने इस लेखके शीर्षककी उक्तिको ही अपनी जीवन-सहचरी माना था । विदेशोंमें लोगोंने उन्हें मारा-पीटा भी था, तरह-तरहकी उनकी दुर्दशा भी की थी, किंतु महान् आत्मा बापूने प्रतिशोध न कर प्रभुसे उन्हें क्षमा करानेकी ही याचना की थी । तभी तो बापूके निधनपर समस्त विश्वने आँसू बहाये । क्या हिंदू, क्या मुसल्मान, क्या ईसाई सभी जातिके, देश-विदेश—समस्त विश्व बापूके निधनपर शोकसागरमें डूब गया । इसी जीवन-सहचरीके प्रभावसे राष्ट्रपिता बापू विश्वबन्धुत्वको प्राप्त हो गये ।

(७) इस तरह आप आज भी देखेंगे कि एक ओर तो प्रथम श्रेणीके नराधमोंका विशाल समुदाय है, किंतु इसके विपरीत विरला ही क्यों न हो, किंतु कोई-न-कोई सत्पुरुष आज भी दृष्टिगोचर होता ही है, जो काँटा बोनेवालेके लिये काँटा न बोकर फूल बोता है और अपने इस महान् पुण्यमय सत्कर्मसे फूलोंकी तरह सुगन्ध बिखेरता है, जबकि प्रथम श्रेणीका दुर्जन अपने कुकृत्योंकी, कुकर्मोंकी दुर्गन्ध फैलाता है—सारा वातावरण दूषितकर नारकीय जीवन बिताता है । प्राचीनकालमें, देशमें प्रथम श्रेणीका दुर्जन ढूँढ़नेपर भी नहीं मिलता था । देशके दुर्भाग्यसे आज परिस्थिति वैसी नहीं है ।

तृतीय श्रेणीका सत्पुरुष 'अजातशत्रु' होता है, 'अजातशत्रु'का अर्थ होता है—जिसका कोई शत्रु उत्पन्न ही न हुआ हो । यह ईश्वरीय सद्गुण है । इस सद्गुणके पुण्य-प्रतापसे—इस अमोघ अस्त्रसे मनुष्य शत्रुको मित्रमें परिणत कर लेनेकी सामर्थ्य रखता है । इस जीवन-सहचरीके प्रभावसे एक दिन निःसंदेह ऐसा आता है कि प्रथम श्रेणीके निरर्थक आघात पहुँचानेवाले नराधमपर भी यह सत्पुरुष विजय प्राप्त करता है और उसे शत्रुसे मित्रमें परिवर्तित कर लेता है । यह सामर्थ्य अन्यमें नहीं, केवल उसी सत्पुरुष-संतमें विद्यमान रहती है जो काँटा बोनेवालेके लिये फूल बोता है, अपकारका बदला उपकारसे देता है ।

(८) क्षमाशस्त्रं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति ।
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ॥

अर्थात् जिस मनुष्यके हाथमें क्षमारूपी शस्त्र है, दुर्जन उसका क्या करेगा ? अर्थात् कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा । जैसे बिना तिनकोंकी भूमिपर गिरी अग्नि स्वयं ही बुझ जायगी, तृणरहित भूमिका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकेगी । ऐसे दुर्जन भी क्षमावान् सत्पुरुषका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते । शत्रुके साथ मित्रताका, दुर्जनके साथ सज्जनताका व्यवहार कर ऐसे सत्पुरुषका आत्मा शुद्ध हो जाता है । वह महान् आत्मा अजातशत्रु हो जाता है । ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, वैमनस्य आदि दुर्गुण, जो आत्माके पतनका कारण होते हैं, वे उसका स्पर्शतक नहीं कर पाते । ऐसे सत्पुरुषका आत्मा दिव्य लोकमें विचरण करता है ।

(९) 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ।'

जो अपने आत्माको दूसरोंके आत्माके समान समझता है, अर्थात् अपने और परायेका भेदभाव नहीं करता, वरं दूसरोंको अपने समान मानता है—उनके साथ प्रेमका व्यवहार करता है, वही व्यक्ति पण्डित है, विद्वान् है । इसीको कविकुल-शिरोमणि रहीमजीने इस प्रकार व्यक्त किया है—

प्रीति रीति सब सों भली, बैर न हित मित गोत ।
रहिमन याही जनम में, बहुरि न संगत होत ॥

(१०) मनुष्यकी आत्मिक शुद्धिसे उसे सच्चे आन्तरिक सुख और शान्तिकी प्राप्ति होती है । उसके मन-मन्दिरमें दिव्य भावनाओंकी सरिता नित्य प्रवाहित होती है । वह प्रेमसागरमें मज्जनकर जीवनके सच्चे आन्तरिक सुख-शान्तिका उपभोग कर अन्तमें परम गतिको—मोक्षको प्राप्त होता है । जीवनके चरम लक्ष्यको—भगवत्प्राप्तिको सम्पादनकर अपना जीवन सफल तथा सार्थक बनाता है ।

(११) अतएव मनुष्यको चाहिये कि वह दयालु प्रभुकी देन-विशेषका, विवेकका सदुपयोग कर पशुतासे ऊपर उठे—

'जो तोकूँ काँटा बुवै, ताहि बोइ तू फूल।'

—नीतिको अपनी जीवनसहचरी बनावे और समाज, देश और विश्वकल्याणसे प्रेरित हो विश्वबन्धुत्वको प्राप्त करे—अजातशत्रु बने। और इस आदर्शपर चलकर इहलोकके समस्त सुख, वैभवका आस्वादन कर जीवनके परम लक्ष्य 'प्रभु-सांनिध्य'का सम्पादन करे।

सकल सिद्धि-विद्या-बुद्धि-दाता, मङ्गलमूर्ति भगवान् श्रीगणेशजी महाराज भारतको ऐसी सद्बुद्धि प्रदान करें कि वह—

'जो तोकूँ काँटा बुवै, ताहि बोइ तू फूल।'

—उक्तिको अपनी जीवनसहचरी बना इस पुण्यभूमिको उसके प्राचीन चारित्रिक वैभवके शिखरको प्राप्त करानेका पावन ध्येय सम्पादन कर सके—यही दयालु प्रभुसे एकान्त करबद्ध प्रार्थना है।

अन्त मति सो गति

(लेखक—श्रीसुरेशचन्द्रजी वेदालंकार, एम्० ए०, एल्० टी०)

वेदमें मृत्युकी शक्तिका वर्णन करनेवाला एक बहुत ही सुन्दर मन्त्र आया है। मन्त्र यह है—

विधुं दद्राणं समने बहूनां
युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वा
अद्या ममार स ह्यः समान॥
(ऋग्वेद १०। ५५। ५)

अर्थात् (युवानं सन्तं) एक ऐसे नौजवानको (विधुं) जो कि विविध काम करनेवाला है और (समने) रणमें (बहूनां) बहुतोंको (दद्राणं) मार भगानेवाला है, उसे (पलितः) एक बुड्ढा (जगार) निगल जाता है। (देवस्य) देवके (महित्वा) इस बड़े महत्त्ववाले (काव्यं) काव्यको (पश्य) देख कि (ह्यः सम्+आन) कल जो जी रहा था, साँस ले रहा था (सः) वही (अद्य) आज (ममार) मरा पड़ा है।

संसारकी अनित्यताका उल्लेख करते हुए और इस भावको प्रकट करते हुए एक कविने लिखा है—

एक बड़े अचरजकी बात।
बड़े-बड़े युद्धोंमें जिसने, बहुतोंको था मार भगाया।
पूरा किया विविध कामोंको, जिसने अमित शौर्य दिखलाया।
ऐसा एक युवक मदमाता, विजय गर्वसे चलता था,
उसने एक वृद्धको देखा, जो सबको ही छलता था।
युवक भिड़ गया उससे तात।
बहुत वृद्ध था, श्वेत बाल थे, कितने साल पुराना था ?
कुछ अनुमान नहीं हो पाया, भयका कहीं ठिकाना था।
आगे बढ़ा और तब उसने नौजवानको पकड़ लिया,
पलक मारतेमें बुड्ढेने उसे निगल कर हजम किया।
क्षणमें, और आ गयी रात।

मैंने एक काव्य देखा है, उसमें लिखा हुआ है यह—
'कल जीवनका दम भरता था—आज मरा है देखो वह।'
सूर्य चन्द्रको निगल रहा है, और लोकको बूढ़ा काल,
समझ गया अब, सब 'अनित्य' है नित्य सत्य बस वही अकाल।

सचमुच संसार नश्वर है। 'मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवम्' मृत्यु प्राणियोंके लिये अनिवार्य है। परंतु, भारतीय संस्कृतिमें मृत्युकी भीषणता नहीं। मृत्यु तो मानो जीवन-वृक्षमें लगा हुआ मधुर फल है या मानो ईश्वरका ही एक स्वरूप है। जीवन और मरण वस्तुतः एक रूप ही हैं। रात्रिमेंसे ही आखिर अरुणोदय होता है और अरुणोदयमें ही अन्तमें रात्रिका निर्माण होता है। जीवनमें मृत्युका फल लगता है, मृत्युमें जीवनका।

महादेवजीके ऊँचे शिखरवाले मन्दिरतक पहुँचनेके लिये जिस प्रकार सीढ़ियाँ बनी रहती हैं, उसी प्रकार पूर्णताके शिखरकी ओर जानेके लिये जन्म-मरणके पैर रखकर जीव जाता है। मरण मानो एक कदम ही है, मरण मानो प्रगति ही है। मरणका अर्थ है आगे जाना। हमारा यह कदम किस दिशाकी ओर जा रहा है, इसकी सूचना भी हमें इस जन्ममें मिल जाती है। मनुष्यने इस जीवनमें जैसे कर्म किये होते हैं, वे कर्म अन्तिम समय उसके सामने आकर उसके भविष्यकी प्रगतिका रूप उसके सामने रख देते हैं। इसीलिये मानव-जीवनकी सफलता या असफलता-

का रिकार्ड यह मृत्युकी अन्तिम घड़ी है । इसीलिये ईशोपनिषद्के एक मन्त्र (१७) में आया है—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त ँ शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृत ँ स्मर क्रतो स्मर कृत ँ स्मर॥

अर्थात् शरीरोंमें आने-जानेवाला जीव अमर है । परंतु, यह शरीर केवल भस्मपर्यन्त है । इसलिये अन्त समयमें हे जीव ! 'ॐ'का स्मरण कर । निर्बलता दूर करनेके लिये स्मरण कर और अपने किये हुएका स्मरण कर ।

इस मन्त्रका भाव यह है कि मनुष्यको अपना जीवन इस प्रकार व्यतीत करना चाहिये कि जब अमर आत्मा और विनश्वर शरीरके वियोगका समय आये, तब वह 'ॐ' का उच्चारण कर सके । छान्दोग्योपनिषद्में एक आख्यायिका आयी है कि एक समय देवकी-पुत्र कृष्णके लिये उनके गुरु आङ्गिरस घोर ऋषिने उपदेश दिया कि जब मनुष्यका अन्त समय हो, तब उसे तीन वाक्योंका उच्चारण करना चाहिये—

(१) त्वं अक्षितमसि (हे ईश्वर ! आप अक्षित हैं)
(२) त्वं अच्युतमसि (हे ईश्वर ! आप अविनश्वर हैं)
(३) त्वं प्राणसंशितमसि (हे ईश्वर ! आप सर्वजीवनप्रद सूक्ष्मतम हैं)

उपनिषत्कारने लिखा है कि श्रीकृष्ण इस उपदेशको सुनकर अपिपास (अन्य किसी उपदेशके लिये तृष्णा-रहित) हो गये (छान्दोग्योपनिषद् ३ । १७ । ६–८) । विचारणीय बात यह है कि जब घोर ऋषिने श्रीकृष्ण महाराज-को एक शिक्षा दी थी, तो फिर श्रीकृष्णने क्यों यह समझ लिया कि अब उन्हें और किसी शिक्षाकी जरूरत नहीं रही । श्रीकृष्णको दी गयी इस शिक्षापर जब हम विचार करते हैं तो हमें पता चलता है कि वेदके मन्त्रमें उपदेशरूपमें कहा गया है 'ॐ क्रतो स्मर' हे जीव ! ॐका स्मरण कर । इस शिक्षाका हमें पालन करना चाहिये । परंतु, पालन करना, न करना हमारे हाथमें है । दूसरी बात नियमरूपमें यह बतायी गयी है कि 'कृतं स्मर' हे जीव ! अपने किये हुएका स्मरण कर—यह शिक्षा नियमरूप है, अटल है । मनुष्य-जीवनके भी दो भाग हैं। एक वह भाग है जिसमें मनुष्य मृत्युशय्यापर नहीं आता है और स्वतन्त्ररूपमें कर्म करता रहता है । अच्छा कर्म करे या बुरा—यह उसकी इच्छापर है । जीवनका दूसरा भाग तब प्रारम्भ होता है जब वह मृत्युशय्यापर आकर अन्तिम श्वास लेनेकी तैयारी करता है । इस जीवनके भागमें उसे स्वेच्छासे सोचनेकी स्वतन्त्रता नहीं रहती है । उस समय उसके सामने अपने जीवनका वास्तविक चित्र या लेखा-जोखा दिखायी देने लगता है । अर्थात् यदि एक व्यक्तिने अपना सारा जीवन केवल धन-धन करके विताया है तो वह धनका स्मरण करता हुआ ही दुनियासे कूच करेगा । गजनीके प्रसिद्ध लुटेरे राजा महमूदका जीवन इसका उदाहरण है । कहनेका भाव यह है कि मनुष्य, जीवनके पहले भागको जिस प्रकारके कार्यमें लगाता है, उसे उसीका स्मरण करते हुए इस दुनियासे जाना पड़ता है । श्रीकृष्ण आचार्य घोरके उपदेशको सुनकर इसीलिये अपिपास हुए कि वे समझ गये कि जीवनके अन्तमें 'ॐ अक्षितमसि' इत्यादि वाक्य तभी निकल सकते हैं जब हमारा सारा जीवन प्रभु-भक्तिमें बीता हो । इसीलिये श्रीकृष्ण भगवान्ने गीता (८ । ६) में लिखा है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

अर्थात् श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि 'हे अर्जुन ! मनुष्य जिस भावनाको अपनी मृत्युके समय हृदयमें धारण करके अपने प्राणोंको छोड़ता है, उसी गतिको वह प्राप्त होता है ।' संसारका इतिहास इसका प्रमाण है ।

२३ दिसम्बर १९२६ ई०को एक मकानमें एक व्यक्ति लंबी बीमारीके बाद आराम कर रहा था । इतनेमें एक व्यक्ति वहाँ आ धमका । उसके पास उनका भक्त, एक सेवक और एक प्राइवेट सेक्रेटरी भी था । आनेवाला मुसल्मान था । मुसल्मान था तो क्या हुआ ? वहाँ तो रुकावट किसीको नहीं । उस मन्दिरमें सभी आ-जा सकते हैं । आनेवालेने पानी माँगा । प्यासेको पानी पिलाना दया नहीं, कर्तव्य है । सेवक पानी लाने गया । इतनेमें उस मुसल्मान युवकने पिस्तौल निकालकर छातीपर तीन गोलियाँ मारीं और भभूतकी नहीं अपितु मानवताकी विमल विभूतिका मौतिक शरीर शान्त हो गया । पर मरते समय भी उनकी अन्तिम इच्छा यही व्यक्त हुई कि 'हे भगवन् ! मुझे मुक्ति नहीं चाहिये, मैं तो चाहता हूँ कि फिर इस देशमें पैदा होऊँ और दलितों, दीनों और पीड़ितोंकी सेवा करूँ ।' ये स्वामी श्रद्धानन्द थे । धन्य स्वामी श्रद्धानन्द, मरते-मरते भी हमें मरना सिखाकर चल दिये ।

स्वामी दयानन्दको भयंकर विष दिया जा चुका था ।

मृत्युकी घड़ी आ गयी थी। स्वामी दयानन्दके चेहरेपर किसी प्रकारके शोक और घबराहटके चिह्न नहीं थे। चेहरेपर एक दैवी आभा चमक रही थी। ईश्वरकी चर्चा चल रही थी। ठीक मृत्युसे पहले उन्होंने वेद-मन्त्र पढ़े, संस्कृतमें ईश्वरकी उपासना की, फिर भाषामें ईश्वरके गुणोंका थोड़ा-सा कथन कर बड़ी प्रसन्नता और हर्षसहित वे गायत्रीमन्त्रका पाठ करने लगे, तत्पश्चात् हर्ष और प्रफुल्लित चित्तसहित कुछ देरतक समाधियुक्त नयन खोल यों कहने लगे—'हे दयामय! हे सर्वशक्तिमान् ईश्वर! तेरी यही इच्छा है। तेरी इच्छा पूर्ण हो। अहा! तूने अच्छी लीला की।' इतना कह उन्होंने करवट बदली और अपने प्राण छोड़ दिये।

देशबन्धु दासने मृत्युके समय एक बड़ी सुन्दर कविता लिखी। उसमें वे कहते हैं 'प्रभो! मेरे ज्ञानाभिमानकी गठरी मेरे सिरसे उतार ले। मेरी पुस्तकोंकी गठरी मेरे कंधोंसे नीचे उतार ले। जिसके सिरपर मोरमुकुट है, हाथोंमें बाँसुरी है, उस राधारमण श्यामसुन्दर गोपालको देखनेके लिये मेरे प्राण व्याकुल हैं। अब वेदकी आवश्यकता नहीं, वेदान्तकी आवश्यकता नहीं। अब तो सब कुछ भूल जाने दो, अब मुझे तुम्हारा वह अनन्त राज्य दिखायी दे रहा है। प्रभो! मैं तुम्हारे कुंजके द्वारपर आ गया हूँ। मैं अपने प्रिय द्वारपर आ गया हूँ। अपने निर्वाणोन्मुख दीपकको प्रज्वलित करनेके लिये मैं तुम्हारे द्वारपर आया हूँ।'

सुकरातको मृत्युकी सजा सुनायी जा चुकी थी। उसके नवयुवक शिष्य हजारोंकी संख्यामें सामने बैठे थे। उनकी आँखोंसे आँसुओंकी बहती हुई अश्रुधाराको देखकर सुकरात मुस्कराया और उसने अमृत-तत्त्वका स्वाद लेते हुए अपने शिष्योंको आत्माकी अमरताका उपदेश देते हुए जहरका प्याला प्रसन्नताके साथ पी लिया।

गेटेने मरते समय 'अधिक प्रकाश अधिक प्रकाश' की माँग की।

संत तुकारामने मरते समय कहा—

कहत तुकाराम हे भगवन्
हमें जन्म दे दे फिर जीवन।

और 'राम कृष्ण हरि' गाते-गाते ही प्रसन्नताके साथ अपने प्राण छोड़ दिये।

समर्थ गुरु रामदासने अपने भक्तोंको हँसते हुए कहा—"क्यों रोते हो? मेरा 'दासबोध' तो है।"

लोकमान्य तिलक 'यदा यदा हि धर्मस्य' वाला श्लोक बोलते-बोलते ही चले गये।

महात्मा गाँधी दोनों हाथ जोड़े हुए 'हे राम' कहकर संसारसे विदा हुए। राजेन्द्रनाथ लाहिड़ीको भारतीय स्वाधीनताके संघर्षके लिये फाँसीकी सजा हुई। उन्होंने फाँसीसे पूर्व एक पत्रमें लिखा—

'मातृभूमिकी बलिवेदीको हमारे रक्तकी आवश्यकता है। आखिर मृत्यु क्या है? यह जीवनका दूसरा पहलू मात्र है। इसलिये मनुष्य मृत्युसे क्यों डरे या घबराये? यह सूर्योदयकी स्वाभाविक बात है। यदि यह सच है कि इतिहास पलटा खाता है तो मैं समझता हूँ कि हमारा त्याग व्यर्थ नहीं जा सकता। हमारी मातृभूमि स्वतन्त्र होगी। सभीको अन्तिम नमस्कार।'

रामप्रसाद बिस्मिलको गोरखपुरमें फाँसी हुई। फाँसीके तख्तेपर जाते समय उन्होंने 'भारतमाताकी जय' का उद्घोष किया। 'नमो मातृभूम्यै' कहकर मातृभूमिको प्रणाम किया और 'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव' मन्त्रसे प्रभुकी प्रार्थना करते हुए फाँसीकी रस्सीको चूम लिया।

अतः 'अन्त मति सो गति' यह जो गीतामें एवं उपनिषदोंमें बतायी गयी सीख है, सो बिल्कुल सत्य है। इसके लिये हमें जीवनभर सदाचार, धर्म, देशभक्ति और कर्तव्यपालनकी शिक्षा लेनी होगी। हमने किस प्रकार जीवन बिताया, इसकी परीक्षा ही मृत्यु है। हमारी मृत्युसे हमारे कामकी कीमत आँकी जायगी। जो मरते समय रोयेगा, उसका जीवन रुदनपूर्ण समझना चाहिये। जो मरते समय हँसे, उसका जीवन जीवन है। उसका जीवन कृतार्थ है। महापुरुषोंकी मृत्यु एक दिव्य वस्तु है। वे अनन्तके दर्शन हैं। उसमें कितनी शान्ति है। कितना समाधान है। इसलिये इस शान्ति और सुखके लिये जीवन-भर जीवनका शृङ्गार कीजिये।

कर ले सिंगार चतुर अलबेली,
साजनके घर जाना होगा।
मट्टी ओढ़ावन मट्टी बिछावन
मट्टीमें मिल जाना होगा।
नहा के धो के सीस गुँथा के
फिर वहाँसे नहीं आना होगा।

आत्मनिरीक्षण कीजिये

(लेखक—श्रीअगरचंदजी नाहटा)

पशु-पक्षी और मानवमें यदि कोई अन्तर है तो विवेकका है—विचार करनेकी शक्तिका है। पशुमें विचार करनेकी शक्तिका तथा विधिका विकास न होनेके कारण उसकी प्रकृति गतानुगतिक—एक दूसरेके अनुकरणका रूप ही अधिक नजर आती है। इसमें संशोधन करना, नये-नये तरीके निकालना तथा विचार करनेका बल हो नहीं सकता है। साधारणतया मानवमें भी विचार न करनेपर गतानुगतिक प्रकृति ही अधिक पायी जाती है और वास्तवमें वह उसमें पशुत्वका अवशेष ही समझिये। इसका मतलब यह कभी भी नहीं कि अनुकरण करना बुरा है या नहीं करना चाहिये। पर किसीका अनुकरण करना हो तो विचार एवं समझपूर्वक करना चाहिये। यही मानवताकी कसौटी है। इसीलिये 'गतानुगतिको लोकः'की उक्ति प्रसिद्धिमें आयी है। वास्तवमें मनुष्य होनेके नाते हमें विचारोंका विकास करते रहना अत्यन्त आवश्यक है। अपनी प्रत्येक प्रवृत्तिकी जाँच करते रहना आवश्यक है कि यह क्यों हो रही है ? इससे कितना लाभ है या क्या हानि है ? इसमें क्या कमी है एवं कैसे क्या सुधार करके अधिक 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की प्राप्ति की जा सकती है। अपनी प्रत्येक प्रवृत्तिपर इस प्रकारकी जाँच-पड़ताल ही आत्मनिरीक्षण है और प्रत्येक मानवके लिये इसकी उपयोगिता निर्विवाद है।

हममें बहुत-सी कमियाँ, दुर्बलताएँ और दोष हैं। उनमें कमी न होनेका प्रधान कारण आत्मनिरीक्षण नहीं करना ही है। वास्तवमें उसके अभावमें हम अपने दोषोंकी ओर ध्यान ही नहीं देते। हम संज्ञाशून्य-से हुए यन्त्रवत् क्रिया करते रहते हैं पर उसमें जो दोष और कमियाँ हैं, विचार न होनेके कारण उनका हमें अनुभव ही नहीं होता। जब किसी दोषको जानते ही नहीं, तो उसके सुधारका प्रयत्न होगा ही कहाँसे ? हम न करने योग्य काम कर बैठते हैं, न बोलने योग्य बोल देते हैं, नहीं विचारने योग्य बातोंकी उलझनमें फँसकर अपना अहित कर बैठते हैं। आत्मनिरीक्षणद्वारा इन सारी बातोंकी रोक-थाम होती है, अपनी गलती सुधारी जाती है, दोष दूर किये जा सकते हैं। करने योग्य कार्यकी नयी प्रेरणा मिलती है। अतः थोड़ा भी नियमितरूपसे आत्मनिरीक्षण अवश्य कीजिये।

कोई व्यापारी बड़े-से-बड़ा भी व्यापार करता रहता है, पर साथ ही उसके लाभ या नुकसानकी ओर भी ध्यान रखता है। रोज नहीं महीनेमें, नहीं तो, वर्षमें एक बार खाता तैयार कर आँकड़ा जोड़कर अपने व्यापारका निरीक्षण अवश्य करता है। जो नहीं करता है वह सच्चा व्यापारी नहीं है। व्यापारीके लिये हिसाब-किताबकी जाँच अत्यन्त आवश्यक है, इसके बिना उसका व्यापार चौपट हो जायगा। कौन-सा व्यापार करनेमें कितना नुकसान हुआ तथा वह क्यों हुआ, जबतक इसका ज्ञान नहीं, प्रगति हो ही नहीं सकती। इसी प्रकार हमने मानव-संसाररूप व्यापार-मंडीमें आकर क्या अच्छा क्या बुरा किया, ऊँचे उठे या नीचे गिरे—इसका लेखा-जोखा आत्मनिरीक्षणद्वारा किया जाता है। प्रवाहमें न बहकर आत्मनिरीक्षण करते हुए आगे बढ़ते जाइये।

हमारेमें आज बहिर्मुखी वृत्ति दिनोंदिन बढ़ रही है। हम दूसरोंकी आलोचना करते रहनेके आदी हो गये हैं, पर अपने दोषोंको जानते हुए भी भुलानेकी व्यर्थ कोशिश करते हैं। हमारी कहनी और करनीमें बहुत ही विषमता आ गयी है। मिथ्याचार और ढोंगका ही पोषण हो रहा है। अवगुणी दृष्टि ही हमारा अधःपतन कर रही है। जो दोष दूसरोंमें देख रहे हैं, वे अपनेमें भी न्यूनाधिक अंशोंमें विद्यमान हैं ही, पर आत्मनिरीक्षणकी प्रवृत्ति न होनेसे उनकी ओर ध्यान ही नहीं जाता। कभी किसी दोषकी ओर जाता है तो उसे दोषोंमें शुमार न कर टाल देनेकी ही चेष्टा करते हैं।

विश्वके बड़े-से-बड़े महापुरुषोंने 'यह गलती की, वह गलती की। उन्हें ऐसा करना चाहिये था।' इत्यादि, यों बड़ोंके दोष बतलाते हुए उनके प्रति तुच्छतासूचक छोटे मुँह बड़ी बातें करते हमें तनिक भी संकोच नहीं होता। पर स्वयं करते कुछ नहीं। नित्य प्रातःकाल हम समाचारपत्र पढ़ते हैं, रेडियो सुनते हैं, जगत्‌भरकी आलोचना करते हैं, पर अपनी हमें कुछ भी चिन्ता नहीं। विश्वकी बातें जानने एवं बघारनेवाले हम अपने आत्माके ज्ञानसे सर्वथा कोरे हैं। हमारे महर्षियोंने ठीक ही कहा है कि जहाँतक निज स्वरूपको नहीं जाना, विश्वका समूचा ज्ञान संचय करनेपर भी तत्त्वतः

कुछ भी नहीं जाना; क्योंकि सारे ज्ञानका मूल उद्देश्य आत्माको उन्नत बनाना है। पर बाह्य ज्ञान तो अहंकारको ही बढ़ाता है। महापुरुषोंका यह अनुभव-वाक्य भी सोलहों आने सही है कि 'आत्महितमें परहित स्वयं हो जाता है, पर केवल परहितमें आत्महित होता भी है और नहीं भी होता।' अर्थात् सबसे पहला आत्मसुधार आत्मोन्नति है। यदि हम सदाचारी हैं तो जगत्को सदाचारके प्रति अपने आचरणद्वारा आप-से-आप आकर्षित कर रहे हैं। पर केवल दूसरोंको लम्बे-लम्बे उपदेश सुनाते हैं तो उसका कोई अर्थ ही नहीं होता। अतः आत्म-निरीक्षणका अभ्यास डालिये। यही आत्मोत्कर्षका प्रथम सोपान है।

दिनभरमें आपने क्या-क्या अच्छे-बुरे कर्म किये, रातके समय उनको स्मरण कर अपने दोषोंको सतर्कतासे कम करनेका और हटानेका अभ्यास डालिये। आत्मनिरीक्षणके द्वारा आप बहुत-सी गलतियोंको सुधार सकेंगे। गलती करना अपनी कमजोरी है और उनको दूर करनेवाले भी हम ही हैं तो फिर अभी ही सुधारके लिये तैयार क्यों न हो जायँ।

वर्तमानमें हम सबकी दृष्टि दूसरोंके अवगुणोंकी ओर ही अधिक लगी रहती है। दूसरोंकी आलोचना ही हमारा धंधा-सा हो गया है, पर इससे न तो अपना कल्याण होता है, न देशका। प्रत्येक व्यक्ति सावधानीसे आत्म-निरीक्षण करके अपने दोषोंको दूरकर सद्गुणोंका विकास करे, इसीमें सबकी (जिसमें स्वयं भी सम्मिलित है ही) भलाई है।

गुरु कैसा करें ?

(लेखक—डॉ० श्रीगोपालप्रसादजी 'वंशी')

गुरु उसे कहते हैं जो परमात्माको प्राप्त करनेका सीधा मार्ग बताये, जो कल्याणका रास्ता दिखाये, धर्मके मार्ग-पर चलनेकी प्रेरणा दे। ऐसे ही गुरुको ढूँढ़ने और उसके पास जानेकी आज्ञा उपनिषदोंने दी है।

तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

'तद्विज्ञानार्थम्' उसके अर्थात् आत्मा और परमात्माका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये आत्मा और परमात्माका दर्शन करानेवाले विज्ञानको पानेके लिये वह अर्थात् ज्ञानका अभिलाषी गुरुके पास जाय। परंतु किस प्रकार ? क्या अकड़कर ? अपनी धन-सम्पत्तिका अभिमान लेकर ? अपने बड़प्पनका घमंड लेकर ? नहीं !

'समित्पाणिः' हाथमें समिधा लेकर, सिर झुकाकर, विनम्र बनकर उसके पास जाय। परंतु किसके पास जाय ? कैसे गुरुके पास पहुँचे ? उपनिषद् कहता है 'श्रोत्रियम्' उसके पास, जो चारों वेदोंको जाननेवाला है, प्रत्येक प्रकारके ज्ञान और विज्ञानका स्वामी है और 'ब्रह्मनिष्ठम्' जिसने ब्रह्मको पा लिया है, आत्मदर्शन कर लिया है, परमात्माको अनुभवसे देख लिया है—ऐसे गुरुके पास जाना चाहिये।

आजकल गुरु-धारण करनेकी प्रथा बहुत तीव्र हो रही है और आजकल गुरु बननेवाले भी बहुत हो गये हैं ! उनकी यही इच्छा होती है कि अधिक-से-अधिक लोग उनके चेले बन जायँ। एजेंट बना रक्खे हैं उन्होंने, जो लोगोंके पास जाकर कहते हैं, फलाँ व्यक्तिको गुरु बना लो। ये एजेंट अपने साथ रजिस्टर लिये घूमते हैं। चेलोंके नाम उसमें दर्ज करते रहते हैं। यह गुरुडम ठीक नहीं, ऐसे गुरु भी ठीक नहीं। यह धोखेकी चीज है। गुरुके लिये आवश्यक है कि उसमें तीन गुण हों। पहला यह कि आप उसके पास जायँ, उसके पास बैठें, तो बैठनेको जी चाहे। यह नहीं कि बैठनेके कुछ ही देर बाद मन कहने लगे—'चलो'। जिस व्यक्तिके पास बैठकर बैठे रहनेको जी न चाहे, समझो कि उसमें गुरु बननेका गुण नहीं। प्रत्येक व्यक्तिमें एक आकर्षण-शक्ति रहती है। योगाभ्याससे, आत्मदर्शनसे, सुकर्मसे और सदाचारसे इस आकर्षणमें इतनी वृद्धि हो जाती है कि समीप बैठा व्यक्ति उसकी ओर इस प्रकार खिंचने लगता है, जैसे लोहा चुम्बकके पास पहुँचकर उसकी ओर खिंचता है। ऐसे ही इस व्यक्तिके पास बैठनेवालेका मन खिंचने लगता है। आकर्षणकी लहरें—किरणें इस व्यक्तिके भीतरसे निकलने लगती हैं। वे पास बैठनेवालेको

मानो अपने साथ बाँध लेती हैं। यह पहला गुण है। यदि यह गुण आपके गुरुमें नहीं, तो समझिये आप गलत आदमीके पास पहुँच गये। इस व्यक्तिमें आपका गुरु बननेकी योग्यता नहीं। भोगासक्त मनुष्योंको इन्द्रियों, भोगपदार्थों और प्राणियोंमें जो आकर्षण होता है, उसका इससे कोई सम्बन्ध नहीं है।

दूसरी बात यह है कि उस व्यक्तिने अपनी जिह्वाको वशमें किया है या नहीं। यह जिह्वा बहुत शक्तिशाली है। स्वाद भी लेती है, बोलती भी है। एक साथ यह ज्ञानेन्द्रिय भी है और कर्मेन्द्रिय भी। जिसने इसको वशमें नहीं किया, वह किसी भी दूसरी इन्द्रियको वशमें नहीं कर सकता। यदि किसी व्यक्तिकी जीभ कड़वा बोलती है, हृदयको दुखानेवाली बात कहती है, तो समझो, उसने अपनी जिह्वापर अधिकार नहीं किया। और यदि वह व्यक्ति हर समय स्वाद ही देखता रहता है, हर समय खानेका मेनू (menu) ही बनाता रहता है, तो समझो कि वह व्यक्ति विद्वान् होनेपर भी किसी-न-किसी दिन गिरेगा अवश्य। ऐसा व्यक्ति गुरु बननेके योग्य नहीं। जिसने अपनी इन्द्रियोंको वशमें नहीं किया, वह आपको क्या सिखायेगा ?

और यदि ये दोनों बातें ठीक हों, यदि उसके पास बैठे रहनेको जी चाहे और उसने अपनी जिह्वाको वशमें कर लिया है, तो कुछ दिन उसके निकट रहकर देखिये, उसे छेड़कर देखिये कि उसे क्रोध आता है या नहीं। यदि उसके क्रोधकी ज्वाला भड़क उठती है, तो समझिये कि उस व्यक्तिमें गुरु बननेकी योग्यता नहीं।

संत दादूकी एक कथा सुननेमें आती है। दादूजी चले गये एक नये इलाकेमें। नगरसे दूर जंगलमें ठहर गये। ज्यों-ज्यों लोगोंको पता लगा, त्यों-त्यों वे जंगलमें आकर ही प्रभुभक्तिका अमृत पीने लगे। शहरके कोतवालने भी संत दादूके आनेकी बात सुनी। उनके मनमें भी आया कि चलकर इस महात्माके दर्शन करूँ, जिसकी प्रशंसा कितने ही लोग करते हैं। अपने घोड़ेपर चढ़कर कोतवाल महोदय जंगलकी ओर चल दिये। काफी दूर आ गये, तो भी दादू महाराजका पता नहीं लगा। कहीं साइनबोर्ड तो लगा ही नहीं था, न कहीं कोई आकर्षक कुटिया थी। कुछ दूर जानेपर एक व्यक्ति दिखायी दिया—दुबला-पतला शरीर, केवल एक लंगोटी पहने वह झाड़ियोंको साफ कर रहा था। मार्गकी झाड़ियोंको काटता और परे फेंक देता ताकि मार्ग साफ हो जाय। कोतवालने उसके पास जाकर पूछा, 'अरे ओ भिखारी! तुझे पता है कि संत दादू कहाँ रहते हैं ?'

उस व्यक्तिने कोतवालकी ओर देखा, परंतु कहा कुछ नहीं। कोतवालने समझा, यह बहरा है। चिल्लाकर बोले, 'अरे मूर्ख! मैं पूछता हूँ कि दादू कहाँ रहता है ?'

इस बार उस व्यक्तिने कोतवालकी तरफ देखा भी नहीं, चुपचाप अपना काम करता रहा।

कोतवालको क्रोध आया। जिस चाबुकसे वह घोड़ेको चलाता आया था, उसीसे उस व्यक्तिको मारने लगा। चाबुकसे उस व्यक्तिके शरीरपर नीले-नीले निशान पड़ गये। इससे भी वह व्यक्ति नहीं बोला, तो कोतवाल साहबने चाबुकका डंडा उसके सिरपर दे मारा और चिल्लाकर कहा, "मूर्खकी संतान! 'हाँ' या 'ना' भी नहीं कह सकता ?" परंतु वह व्यक्ति फिर भी नहीं बोला। उसके सिरसे रक्त बहने लगा। उसकी ओर भी ध्यान नहीं दिया उसने।

खून देखकर कोतवाल महोदय रुके। समझे, यह व्यक्ति केवल गूँगा-बहरा ही नहीं, पागल भी है। घोड़ेको लेकर वे आगे बढ़े। थोड़ी ही दूर बढ़े थे कि एक व्यक्ति परली ओर जाता हुआ मिला। कोतवालने उससे भी पूछा, 'अबे, ओ जानेवाले! तुझे पता है कि इस जंगलमें संत दादू कहाँ रहते हैं ?'

उस व्यक्तिने कहा, 'आपको इसी मार्गपर पीछे दिखायी नहीं दिये ? मैं तो अभी उन्हें देखकर आया हूँ।'

कोतवालने पूछा, 'कहाँ हैं वे ?'

उस व्यक्तिने कहा, 'इस रास्तेपर पीछे तो थे। लंगोटी पहने मार्गकी काँटेदार झाड़ियाँ काट रहे थे जिससे मार्गमें चलनेवालोंको कष्ट न हो।'

कोतवालने आश्चर्यसे मुँह फाड़कर कहा, 'कौन ? वह···लंगोटीवाला, वह दुबला-पतला-सा व्यक्ति ?'

यात्रीने कहा—'वही तो, वही महात्मा दादू हैं। आपने शायद उनकी ओर ध्यान नहीं दिया। उन्हें पीछे छोड़ आये।'

कोतवालने जल्दीसे घोड़ा मोड़ा। वापस उस व्यक्तिके पास पहुँचे, जिसके शरीरपर अब भी चाबुकके चिह्न थे और जिसने अपने सिरपर पट्टी बाँध ली थी। उसके पास जाकर बोले, 'आप······क्या आप दादू हैं?'

इस व्यक्तिने मुसकराकर उसकी ओर देखा, फिर धीमेसे कहा, 'इस शरीरको दादू भी कहते हैं।'

कोतवाल जल्दीसे घोड़ेसे उतरा। उनके पैरोंपर गिर पड़ा। दुःखभरी—दीनताभरी आवाजमें बोला, 'क्षमा कर दो, महाराज! मैं तो आपको गुरु-धारण करनेके लिये आया था।'

दादूने उसे प्यारसे उठाया। बोले, 'तो फिर यह दुःख किसलिये? व्यक्ति साधारण घड़ा खरीदनेके लिये जाता है, तो उसे ठोंक-पीटकर देखता है कि वह ठीक है या नहीं। तुम तो जीवनका मार्ग दिखानेवाला गुरु चाहते थे। तुमने यदि गुरुको ठोंक-पीटकर देख लिया, तो इसमें हर्ज क्या है? थोड़ी देर ठहरो। मैं यह झाड़ी परे फेंक लूँ, फिर बैठकर बातें करेंगे। ये झाड़ियाँ और इनके काँटे मार्ग चलनेवालोंको बहुत कष्ट देते हैं।'

यह है गुरुका गुण। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि जिसे आप गुरु बनाना चाहते हैं, उसे पीटना शुरू कर दीजिये। ऐसा कदापि नहीं करना है। उसके पास बैठकर यह देखिये कि उसे क्रोध आता है या नहीं। यदि क्रोध नहीं आता तो वह ठीक व्यक्ति है। उसे गुरु अवश्य बनायें, परंतु होशसे बनायें, देख-भाल कर बनायें। इसलिये उपनिषद्‌के ऋषिने कहा—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

अर्थात् उठो, जागो और पहुँचो उनके पास जो पहुँचे हुए हैं। परंतु यह विचित्र बात क्या हुई? प्रायः पहले जागते हैं, पीछे उठते हैं, तब जाते हैं वहाँ जहाँ जाना होता है। यहाँ इसके विपरीत पहले कहा, 'उठो', फिर कहा 'जागो'। इसका अर्थ क्या हुआ? क्या उपनिषद्‌के ऋषिने अशुद्ध बात कह दी? नहीं, ऋषियोंकी प्रत्येक बातमें कोई रहस्य होता है। उपनिषद्‌के ऋषिने भी यदि कहा, उठो, जागो और पहुँचो उनके पास जो पहुँचे हुए हैं, तो इसलिये कि उठो, चलो, दृढ़ निश्चयसे आगे बढ़ो कि गुरु खोजना है। परंतु देखो, सावधान, जागते रहना, कहीं धोखा न खा जाना। इस संसारमें धोखा बहुत है। जगह-जगह बोर्ड लगे हुए हैं, 'यहाँ योग सिखाया जाता है, यहाँ आत्मदर्शन कराया जाता है।' दूकानें बहुत बन गयी हैं दुनियामें। इनसे सावधान रहना। यह देखना कि जिसको गुरु बनाना चाहते हो, उसमें गुरु बननेका गुण भी है या नहीं। यदि पहले बताये गये तीन गुण उसमें हैं, तो समझो जिसकी तुम्हें तलाश थी, वह मिल गया। यदि नहीं, तो खोज जारी रक्खो। गुरु अभी मिला नहीं। खोज जारी रही तो मिल जायगा किसी दिन।

सद्गुरुकी सेवासे परम कल्याण

गुरु यथार्थमें वही, स्वयं हो जिसको प्रभुका तत्त्वज्ञान।
शम-दम-त्याग-समत्व-प्रेमकी जो हो पावन मूर्त्ति महान्॥
निज आदर्श चरितकी द्युतिसे हरे शिष्यका तम अज्ञान।
प्रभुकी ओर लगा, जो कर दे सहज समुज्ज्वल-जीवन-दान॥
सेवा करे सदा ऐसे सद्गुरुकी, समझ उसे भगवान्।
श्रद्धा-विनय-भक्तिसे अनुगत रहे, करे पूजन-सम्मान॥
बना रहे आज्ञाकारी नित कर्म-वचन-मनसे सज्ञान।
गुरुकी सहज कृपासे उसका हो अभ्युदय, परम कल्याण॥

हम ही अपने मित्र हैं और हम ही अपने शत्रु हैं

(लेखक—श्रीश्याममनोहरजी व्यास, एम्० एस्-सी०)

'मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसको वैसा ही फल मिलता है ।'

'हम ही अपने मित्र हैं और हम ही अपने शत्रु हैं !'

जीवनके इस चिरन्तन सत्यको सिद्ध करनेवाली एक पुराण कथा है—

विदर्भका महाप्रतापी राजा शशिध्वज प्रजापालक, वीर एवं साहसी नरेश था । एक दिन वह आखेटके लिये वनमें गया । वनमें काफी भ्रमण करनेके पश्चात् उसे एक व्याघ्र दिखलायी दिया । शशिध्वजने धनुष तानकर व्याघ्रपर लक्ष्य स्थिर किया ।

व्याघ्र अट्टहास करके हँसा ।

राजाने गौरसे देखा तो व्याघ्रके स्थानपर एक सर्प वहाँ पड़ा था । राजाने सर्पपर ही बाण चलानेका निश्चय किया ।

वह सर्प भी जोरोंसे हँसा ।

राजाने फिर देखा कि सर्प वहाँ नहीं है, वरं एक मृग वहाँपर है । अब राजाने मृगपर तीर साधा !

हिरनने भी अट्टहास किया और क्षणभरमें ही हिरन चीलमें परिणत हो गया ।

राजाके आश्चर्यकी सीमा न रही, पर उसने दृढ़ संकल्प कर लिया कि वह इस मायाजालको नष्ट करके ही रहेगा । उसने समझा यह सब मायावी कार्य किसी दैत्य या प्रेतके हैं ! उसने तत्काल चीलको अपने बाणका लक्ष्य बनाया ।

किंतु दूसरे ही क्षण वह क्या देखता है कि चील अदृश्य हो गयी है और उसकी जगह स्वयं उसका ही प्रतिरूप शशिध्वज राजा खड़ा हुआ अट्टहास कर रहा है ।

अपने सामने स्वयं अपनेको ही खड़ा देख राजा शशिध्वज भयभीत हो उठा और धनुष वहीं एक स्थानपर रखकर वह उस नकली शशिध्वजके पास गया । राजाको पास आया देख वह दूसरा शशिध्वज बोला—'राजन् ! इतने व्याकुल क्यों हो ?' शशिध्वजने कहा—'तुम कोई दानव जान पड़ते हो, बंद करो अपना मायावी कार्य; नहीं तो मैं तुम्हारा वध कर दूँगा ।'

नकली शशिध्वज हँसकर बोला—'राजन् ! मैं न तो दैत्य हूँ और न प्रेत ! यह माया मेरी नहीं, ईश्वरकी है । यह तो प्रतिक्षण इस जगत्में घटित हो रही है ! लाखों-करोड़ों जीव एक शरीरको त्यागते हैं और दूसरा ग्रहण करते हैं और तुम भी सनातनकालसे यही करते चले आ रहे हो ! तुमने भी लाखों जन्म ग्रहण किये हैं और लाखों और ग्रहण करोगे ! क्या तुम्हारी यह देह अमर रहेगी ?'

शशिध्वजने उत्तर दिया—'नहीं-नहीं ।'

तब नकली शशिध्वज बोला—'तो फिर किसे मारना चाहते हो ?'

राजाने दृढ़तासे उत्तर दिया—'मैं तो व्याघ्रको मारना चाहता हूँ ।'

नकली शशिध्वजने कहा—'तो क्या मैं व्याघ्र हूँ ?'

शशिध्वजने कहा—'नहीं, तुम तो वही हो जो मैं हूँ; किंतु तुम वास्तविक नहीं काल्पनिक हो ! मायासे तुमने मेरा रूप धारण कर लिया है ।'

नकली शशिध्वजने व्यंगसे कहा—'यदि रूप ग्रहण करना माया है, तो तुमने भी तो लाखों रूप ग्रहण करके छोड़ दिये हैं । तुम भी मायावी हो !

राजन् ! भ्रम त्यागो ! आँखें खोलकर देखो ! तुम स्वयं अपने सामने खड़े हो और व्याघ्रको नहीं, स्वयं अपनेको मारना चाह रहे हो। मैं तुम्हारा ही छाया-रूप हूँ। संसारका यह आश्चर्य है—हम अपनेको ही संताप देते हैं और अपनेको ही मारनेका प्रयत्न करते हैं।'

असली शशिध्वजको अब सच्चा ज्ञान प्राप्त हुआ। इससे पूर्व कि वह नकली शशिध्वजसे कुछ कहे, नकली शशिध्वजकी काल्पनिक देह अदृश्य हो गयी।

राजा अकेला ही रह गया। उसे इस बातका बोध हो गया कि हम ही अपनेको सुख पहुँचाते हैं और हम ही अपनेको दुःख पहुँचाते हैं। हम ही अपने मित्र हैं और हम ही अपने शत्रु हैं ! ईश्वरकी सृष्टि विचित्र है।

मंदोदरीकी सात्त्विक भावना

(लेखक—श्रीकपिलदेवजी तिवारी एम्० ए०, बी० एड्०)

गोस्वामीजीद्वारा विरचित श्रीरामचरितमानसकी सुप्रसिद्ध पात्रा रावण-पत्नी मंदोदरी राक्षस-कुलकी राज-महिषी होते हुए भी 'मानस' महाकाव्यमें आयी हुई सभी भक्त पात्राओंसे श्रेयस्करी है। क्यों न हो, **'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना'** तो होती ही है तथा भगवद्-भक्ति पानेका अधिकार तो सबको ही है। जिसकी जितनी और जैसी ग्राह्य-क्षमता होगी, उसके अनुसार वह अपने मस्तिष्क-प्यालेमें रस-संचय करेगा ही और जिसपर उस परमपिताके कृपाकण विशेष छिटकेंगे, वह तो श्रेष्ठ भक्त बन ही जायगा, चाहे वह राक्षस हो या मनुष्य या कोई अन्य जीव। आदमी ही तो अपने कर्मके अनुसार राक्षस, मनुष्य या देवता बन जाते हैं। गोस्वामीजीके ही शब्दोंमें—

बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लंपट परधन परदारा॥
मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा॥
× × ×
सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई। देव बिप्र गुरु मान न कोई॥
नहिं हरि भगति जग्य तप ग्याना। सपनेहुँ सुनिअ न बेद पुराना॥
अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिअ नहिं काना।
तेहि बहुबिधि त्रासइ देस निकासइ जो कह बेद पुराना॥
बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहि कवनि मिति॥
× × ×
जिन्ह के यह आचरन भवानी। ते जानेहु निसिचर सब प्रानी॥

सती साध्वी मंदोदरी सर्वाधिप, सर्वान्तर्यामी ईश्वरमें सदा आस्था रखनेवाली धर्मपत्नी है। वह पञ्चकन्याओंमें स्थान रखनेवाली है। राम-रावण-युद्ध-प्रारम्भसे पहले वह सर्वत्र रमण करनेवाले रामको सम्पूर्ण विश्वका रूप अपने व्यभिचारी एवं परतियचोर पतिको समझानेके लिये निम्न शब्दोंमें बतला रही है—

बिस्व रूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वासु।
लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु॥
पद पाताल सीस अज धामा। अपर लोक अँग-अँग बिश्रामा॥
भृकुटि बिलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कच घन माला॥
श्रवन दिसा दस बेद बखानी। मारुत स्वास निगम निज बानी॥
अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान॥

भला, यह राक्षसी प्रवृत्तिका लक्षण है ? और उसमें भी राक्षस-स्त्रीका जो सिर्फ स्त्री हो जानेसे ही पुरुषकी अपेक्षा निकृष्ट हो जाती है—

'अधम ते अधम अधम अति नारी।'

मंदोदरी राक्षस-करीलोंके बीचमें पली हुई गुलाब एवं साधना-मार्गमें उलझन पैदा करनेवाले शैवाल-जालोंके मध्य विकसित कमलिनी है। वह ईश्वरकी महानता

और मदचूर अभिमानी पतिकी लघुता अच्छी तरह समझ रही है। वह रामसे विरोध नहीं चाहती; क्योंकि रावण-जैसे अनेक जीवोंके काल-कर्म उनके हाथसे बनते-बिगड़ते हैं—

तासु विरोध न कीजिअ नाथा। काल करम जिव जाकें हाथा॥

सीताको चुरा लानेमें उसकी कदापि सम्मति नहीं। उसने जबसे सुन लिया है कि दीनदयालु, भक्तवत्सल भगवान् राम लंकाकी सीमामें सीतार्थ आ गये हैं, तबसे एक कुलीन सहधर्मिणी पत्नीकी भाँति पतिके चरणोंमें झुककर, आँचल पसार, रावणको क्रोधमुक्त बनकर सीताको ले जाकर रामचरणारविन्दपर पड़ क्षमा-याचना करनेको नेक सलाह देती है—

रामहि सौंपि जानकी नाइ कमल पद माथ।
सुत कहुँ राज समर्पि बन जाइ भजिअ रघुनाथ॥

पतिदेव! जीवनके सारे सुख तो आपने पा ही लिये। सभी दिशाओंके देवता, मनुष्य, राक्षस एवं अन्य जड-चेतनपर तो आपने अधिकार कर ही लिये। इससे किसकी सीमा आगे बढ़ सकनेवाली है?

मंदोदरी संत, सज्जन और नीतिज्ञोंके उपदेशों एवं सम्मतियोंकी सदा जानकारी रखनेवाली है। तभी तो कहती है—

संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथेंपन जाइहि नृप कानन॥
मुनिबर जतनु करहिं जेहि लागी। भूप राज तजि होहिं बिरागी॥
सोइ कोसलाधीस रघुराया। आयउ करन तोहि पर दाया॥

पतिदेवको सन्मार्गपर ले चलनेके लिये बार-बार विनयावनत होकर मंदोदरी कान्तासम्मित उपदेश देनेमें कुशल आर्य-पत्नियोंके लिये आदर्श प्रस्तुत करती है—

अस कहि नयन नीर भरि गहि पद कंपित गात।
नाथ भजहु रघुनाथहि अचल होइ अहिवात॥

भगवान् रामद्वारा भेजे गये दूतों और रावणके शुभैषियों आदिसे भी मंदोदरीकी रावणके प्रति सीख बड़ी ही मार्मिक और हृदयस्पर्शी है। द्वितीय दूत अंगदने भी एक पुत्रका संघात कर डाला है। पतिदेव विलख रहे हैं। चतुर पत्नी कंतको पुनः समझा रही है—

कंत समुझि मन तजहु कुमतिही।
सोह न समर तुम्हहि रघुपतिही॥

वह स्पष्ट शब्दोंमें निःशंक होकर पतिको प्रत्युत्तर देती है। मुँहमीठी बोली नहीं बोलती। वह सत्यका पर्दाफाश कर डालनेवाली आर्य-ललना है। पतिको सन्मार्गपर लानेके लिये स्पष्ट शब्दोंमें प्रभु-सत्ता समझाती है—

अब पति मृषा गाल जनि मारहु।
मोर कहा कछु हृदय बिचारहु॥
पति रघुपतिहि नृपति जनि मानहु।
अग जग नाथ अतुल बल जानहु॥
जनक सभा अगनित भूपाला।
रहे तुम्हउ बल अतुल बिसाला॥
भंजि धनुष जानकी बिआही।
तब संग्राम जितेहु किन ताही॥
× × ×
सूपनखा कै गति तुम्ह देखी।
तदपि हृदयँ नहिं लाज बिसेषी॥

सत्य कठोर होता ही है, किंतु स्वजनोंसे भी सत्य बोलना ही चाहिये; क्योंकि यही ईश्वराज्ञा और लाभप्रद है। वह पतिको भी, जो नास्तिक और ईश्वर-विमुख पापात्मा है, अंगदद्वारा इनके मान-मर्दनकी बात कह ही डालती है और वे अंगद रामके सिर्फ दूत ही हैं—

सभा माझ जेहि तव बल मथा।
करि बरूथ महुँ मृगपति जथा॥
निकट काल जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं॥
दुइ सुत मरे दहेउ पुर अजहुँ पूर पिय देहु।
कृपासिंधु रघुनाथ भजि नाथ बिमल जस लेहु॥

मंदोदरी सच्ची माता है। अपने प्रसिद्ध पुत्र मेघनाद की मृत्यु सुनकर वह अपना होश-हवास खो बैठी है।

जन्म. देनेवाली मातासे पहले ही पुत्र चल बसा है। उसके दु:खका कोई पारावार नहीं। असीम वेदना असह्य हो उठती है। माता अनेक भाँति प्रलाप करती है, पछाड़ खा-खाकर गिर जाती है—

मंदोदरी रुदन कर भारी। उर ताड़न बहु भाँति पुकारी॥

वह बार-बार पतिदेवको रामके साथ युद्ध करनेसे मना करती रही, किंतु वे नहीं माने। उन्होंने चोरी और सीनाजोरी दोनों दिखलायी। फलस्वरूप 'राम-विमुख' की गति उन्हें मिली। कुलमें उनके लिये कोई रोनेतकको नहीं बचा—

राम बिमुख अस हाल तुम्हारा। रहा न कोउ कुल रोवनिहारा॥
काल बिबस पति कहा न माना। अग जग नाथु मनुज करि जाना॥

आर्य-कन्या मंदोदरी राक्षस रावणको भी अपने पतिरूपमें पानेपर निज धर्मसे च्युत नहीं होती। वह उसके भौतिक गुणोंका बखान करके प्रलाप करती है और तिलाञ्जलि देकर उसे सद्गति प्रदान करानेकी शुभेच्छा रखती है।

प्राचीन भारतकी परीक्षा-पद्धति

(लेखक—डा० श्रीलक्ष्मीनारायणजी दुबे, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न)

प्राचीन भारतकी परीक्षा-पद्धति आधुनिक भारतकी परीक्षाप्रणालीसे सर्वथा भिन्न और पृथक् थी। पुरातन भारतमें शिक्षा तपस्या, उपदेश और व्यवहारके माध्यमसे दी जाती थी और आश्रम या तपोवन अथवा गुरुकुल, परिषदें एवं सम्मेलनादिको शिक्षा-केन्द्र माना जाता था। प्राचीन भारतके प्रख्यात शिक्षा-केन्द्रों तथा विश्वविद्यालयों—यथा तक्षशिला, काशी, नालन्दा, वलभी, विक्रमशिला और अन्य देवालय विद्यापीठोंमें परीक्षा तथा शिक्षाकी पद्धति मौखिक एवं सांस्कृतिक तत्त्वोंको लिये हुए थी।

प्राचीन भारतमें वर्तमान समयके समान त्रैमासिक या अर्द्ध वार्षिक अथवा वार्षिक परीक्षाएँ न थीं। वैदिक कालमें शिक्षाका प्रथम सोपान वेद-मन्त्रोंको कण्ठस्थ करना था। शुद्ध उच्चारणपर सर्वाधिक बल दिया जाता था। प्रथम सोपानके पश्चात् आचार्य परीक्षार्थियोंकी मौखिक परीक्षा लिया करते थे। वे सर्वविध संतुष्ट होनेपर आगे बढ़ते थे। द्वितीय सोपान अर्थ-बोध एवं व्याख्याका था। इसे सर्वोपरि महत्त्व दिया जाता था। सिर्फ कण्ठाग्र करनेसे ही कार्य नहीं चलता था। इसकी भी मौखिक परीक्षा की जाती थी।

आधुनिक कालकी सलाका-परीक्षा-प्रणालीके प्रमाण प्राचीन आधार-ग्रन्थोंमें अनुपलब्ध हैं। परीक्षाकी अनेक विधियाँ प्रचलित थीं। गुरु और आचार्य परीक्षक थे। इनके अतिरिक्त अन्य विद्वान्गण भी परीक्षकका कार्य किया करते थे। आजके समान परीक्षाका न तो कोई स्थान था और न महत्ता। शिष्यके विषयमें गुरु या अध्यापककी सम्मति, संस्तुति, धारणा और निष्कर्षको ही सर्वोपरि महत्त्व दिया जाता था। यही परीक्षाकी अन्तिम कसौटी थी। आचार्यकी अनुशंसाको कोई चुनौती नहीं दे सकता था।

परीक्षाकी अन्य विधियोंमें शास्त्रार्थके आयोजन, परिषदों तथा सम्मेलनोंके वाद-विवादादि होते थे। आज हमारे परीक्षार्थियोंका लक्ष्य येन-केन प्रकारेण परीक्षा उत्तीर्ण करना है। यही आजके जीवनकी महती उपलब्धि मान ली गयी है। यहींपर ही शिक्षाकी इति-श्री हो जाती है। कुछ कालोपरान्त शिक्षार्थी विस्मरण कर जाता है और पुस्तकें भी उसे विस्मृत कर देती हैं।

प्राचीन भारतमें परीक्षक अपनी विविध तथा विशिष्ट प्रणालियों और माध्यमोंसे परीक्षार्थियोंकी सर्वतोमुखी

परीक्षा लिया करता था। उनके चरित्र, हृदय, मानसिक क्षमताएँ, शारीरिक बल और आत्मिक विकासके प्रसंगमें बहुविध जाँच की जाती थी। आजके युगमें उत्तर-पुस्तिकाओंमें अपने ज्ञानको उँडेल देना ही सर्वोपरि परीक्षा-कला है। इससे परीक्षार्थियोंके साङ्गोपाङ्ग व्यक्तित्व-का भलीभाँति मूल्याङ्कन नहीं हो पाता है।

पुरातन भारतमें परीक्षार्थियोंको काफी ठोंक-बजाकर स्नातक बनाया जाता था। शास्त्रार्थकी अग्नि-परीक्षामें उसे सफल होना पड़ता था। योग्यताका सम्बन्ध साधना तथा निष्ठासे था। सामर्थ्यकी प्राप्ति कड़ी तपस्यासे होती थी। अध्ययनोपरान्त स्नातकको विद्वत्सभामें उपस्थित किया जाता था। उससे प्रश्न पूछे जाते थे। समावर्तन-संस्कारके पश्चात् उसे पण्डितसभाका सामना करना आवश्यक था। आज भी कतिपय विश्वविद्यालयोंमें इसी प्रथाका परिस्कृत रूप प्रचलित है कि अनुसंधित्सुको पी-एच्० डी० या डी०-लिट्० की उपाधिके लिये आयोजित मौखिक परीक्षाओंको कक्षामें नियोजित न कर सभा-भवनमें किया जाता है और उससे परीक्षकों-के अतिरिक्त उपस्थित विद्वत्समाजका कोई भी व्यक्ति प्रश्न पूछनेके लिये स्वतन्त्र है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि प्राचीन भारतमें समावर्त्तनका अधिकार केवल आचार्यकी संस्तुतिपर आश्रित था, पण्डित-सभाकी सम्पुष्टिपर नहीं।

प्राचीन भारतमें प्रायोगिक एवं अभ्यासगत परीक्षाएँ भी ली जाती थीं। तक्षशिला विश्वविद्यालयके आयुर्वेद-के परीक्षार्थी जीवकने जब अपने आचार्यसे परीक्षा लेनेका अत्यधिक आग्रह किया तो वनस्पति-विज्ञानके पाठ्यक्रममेंसे परीक्षकने उन्हें विश्वविद्यालयकी चार योजनकी सीमामें पाये जानेवाली वनस्पतियोंको संकलित करके आयुर्वेदकी दृष्टिसे उनका गुणावगुण विवेचित करनेका आदेश दिया। जीवकने इस कार्यको सफलता-से सम्पन्न किया और यह निष्कर्ष दिया कि कोई भी वनस्पति निरुपयोगी नहीं है।

कभी-कभी आचार-व्यवहारसे भी परीक्षार्थीकी परीक्षा ले ली जाती थी। इसके लिये अनेक सांसारिक उपाय प्रयुक्त किये जाते थे। परिषदों तथा सम्मेलनोंकी परीक्षाओंमें अन्तर था। परिषदें एक प्रकारसे जन-सभाएँ थीं, जब कि सम्मेलन राज-समाजोंका कार्य करते थे। राजशेखरने राज-सभाओंकी परीक्षाओंका इस प्रकार विवेचन किया है—

श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा—

'इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः।
हरिचन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्॥'२३॥

श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा—

'अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडिः।
वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः॥'२४॥

(काव्यमीमांसा १०)

आचार्य चरकने भी वैद्योंकी अनेक प्रकारकी परीक्षाओंकी चर्चा की है। परीक्षार्थीकी यह वृत्ति नहीं होती थी कि वह न्यूनतम आवश्यक योग्यताकी प्रपूर्त्ति करता है अपितु वह सर्वथा मेधावी, सक्षम और राज्या-श्रयका अधिकारी बनता था। नियमित, विधिवत् अथवा अनवरत परीक्षाओंके प्राचीन आधारभूत साक्ष्य उपलब्ध नहीं हैं।

प्राचीन भारतका परीक्षार्थी अपने विश्वविद्यालयपर गौरव करता था और तक्षशिला या नालन्दासे निकले स्नातकोंको समूचा राष्ट्र सम्मानकी दृष्टिसे देखता था। बिना किसी परीक्षा या साक्षात्कार अथवा अन्य औपचारिकताओंके ही वह यथायोग्य स्थानका अधिकारी बना लिया जाता था; क्योंकि उसके विश्वविद्यालयकी प्रतिष्ठा ही उसके लिये सबसे बड़ा प्रमाणपत्र या उपाधि-पत्र होता था। वैसे प्राचीन भारतका परीक्षार्थी सदा-सर्वदा परीक्षाके लिये पूर्ण तत्पर रहता था। वह हर दिशामें पारंगत होता था। उसका ज्ञान उसके रक्तमें

चिरकालीन प्रवहमान रहता था और संस्कार बन जाया करता था। वह न तो उपाधिपत्रका कवच पहनता था और न प्रमाणपत्रोंके पुलिन्दें रखता था। उसका जीवन, आचरण तथा अर्हता ही उसके लिये रामबाण थे। वह समस्त ज्ञानको जिह्वापर रखता था और नवीनतम शोध उसके लिये हस्तामलकवत् थे। वह हर चुनौतीके लिये संनद्ध था। प्रत्येक बुधजनकी संगोष्ठियोंमें वह अपनी विद्या विकीर्ण करता था।

प्राचीन भारतमें सामान्यतया न तो कोई उपाधिपत्र था और न कोई प्रमाणपत्र ही वितरित किये जाते थे। उपाधियोंका वितरण मध्यकालसे ही शुरू हुआ। उपाधियों एवं पदोंका प्रलोभन नहीं, अपितु ज्ञानकी प्यास और राष्ट्रीयताकी रक्षा ही परीक्षार्थीके मुख्य ध्येय थे। विक्रमशिलामें उपाधिपत्र वितरित किये जाते थे। बंगालमें विद्वत्सभाओंद्वारा 'तर्क-चक्रवर्त्ती' तथा 'तर्कालंकार'-जैसी उपाधियाँ बाँटी जाती थीं।

प्रतियोगिताओं एवं प्रतिस्पर्धाओंका क्षेत्र परिस्थितियोंके मध्य संकीर्ण-सीमित था। स्वास्थ्यकी बलि नहीं देनी पड़ती थी। परीक्षाका हौआ सिरपर सवार नहीं था। परीक्षकोंकी न तो भरमार ही थी और न मनमानी। परीक्षा परीक्षकोंके लिये आयका साधन नहीं थी। शुद्ध तथा पवित्र भाव ही कार्यरत थे। जिस प्रकार सारी सरिताएँ सागरोन्मुख होती हैं, उसी प्रकार आजकी समस्त शिक्षा-पद्धति परीक्षोन्मुख है। इस प्रणालीने शिक्षा-जगत्‌में व्यापार-वाणिज्यके उपनिवेशोंको स्थापित कर दिया है। परीक्षक भाग्य-विधाता बन गये और सद्भावोंको तिलाञ्जलि दे दी गयी। विशेषीकरणने ज्ञान तथा विद्यामें कठघरे बना दिये। अनन्त तथा समवेत ज्ञानकी शल्यक्रिया हो गयी। एक अंशकी दक्षता विद्वत्ताकी परिचायिका बन गयी। प्राचीन भारतका परीक्षार्थी असि तथा मसि—दोनोंका विशेषज्ञ होता था। वह टीका-कुंजी मुखापेक्षी नहीं था।

प्राचीन भारतमें शिक्षाका निर्बाद तथा उन्मुक्त रूप वैदिक तथा उपनिषद्-सूत्र कालतक तो चला परंतु धर्मशास्त्रोंके कालमें इस विशिष्टताका प्रवेश होने लगा। पुराण-युगमें इस विशिष्टताका विकास हुआ। न्याय, गणित और अलंकारशास्त्रके पण्डित अलग-अलग होने लगे, परंतु यह स्थिति आजके युगके समान नहीं थी। नालन्दा विश्वविद्यालयमें द्वार-पण्डित भी परीक्षकका कार्य करते थे। वे प्रवेशार्थी-परीक्षार्थीसे कठिन प्रश्न पूछते थे। उनके प्रश्नोंके सम्यक् उत्तरोंके आधारपर ही उनको प्रवेश मिल पाता था। युवांगस्वांग और इत्सिंग-जैसे विदेशी पर्यटकोंने इस विश्वविद्यालयकी मुक्तकण्ठसे सराहना की है। प्राचीन भारतके विश्वविद्यालयोंमें विक्रमशिला विश्वविद्यालयका पाठ्यक्रम सर्वाधिक व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक था।

इस प्रकार यह निश्चित होता है कि प्राचीन भारतके परीक्षक तथा परीक्षार्थी राष्ट्रीय चरित्रसम्पन्न पवित्र प्रवृत्तियोंवाले व्यक्ति थे, जिनका ज्ञानार्जन जीवन तथा प्रकृतिकी शालामें आस्थापूर्वक हुआ करता था।

मैं तो तेरा

मैं तो तेरा वंशी-वादन।
जो गाओगे, वह गूँजेगा॥
मैं तो तेरा नूपुर-नर्तन।
जो ठुमकोगे, वह बाजेगा॥

—बालकृष्ण बलदुवा

यह कैसी गांधीशताब्दी ?

(लेखक—श्रीजयन्तिलाल एन, मानकर महोदय, सम्पादक 'श्रीजीवदया')

गत अक्टूबर १९६८ से भारत और देश-विदेशमें पूज्य महात्मा गांधीकी जन्म-शताब्दी मनानेका प्रयत्न जोरोंसे चल रहा है और यह स्वागतके योग्य है।

गांधीजी बीसवीं शताब्दीमें मानवताके गिरते हुए मूल्यके प्रवाहको रोकनेवाले एक महान् युगपुरुष थे। यह विश्वमान्य घटना है। भारतीय संस्कृतिकी भूमिकापर उन्होंने जगत्‌में सत्य और अहिंसाके साधनोंको आचरणमें लाकर पञ्चशील-जैसी अमूल्य वस्तु विश्वकी विग्रहप्रिय जनताको प्रदान की और उसके प्रचारद्वारा स्वर्गीय पं० जवाहरलाल नेहरूने भी भारतकी प्रतिष्ठा बढ़ायी एवं विश्वके अनेक देशोंकी राजनीतिमें स्वागतके योग्य परिवर्तन होनेसे अबतक तीसरा विश्वयुद्ध रुका हुआ है—यह स्थिति है।

परंतु दूसरी तरफ स्वयं गांधीजीकी मातृभूमि भारतमें गांधीजीके सिद्धान्तों और आचरणोंके बीच सत्ताप्रिय राजनीतिज्ञोंने जो अभेद्य दीवालें खड़ी कर दी हैं, वे निराशाजनक हैं। राष्ट्रके उत्थानके लिये गांधीजीके पञ्चाङ्गी रचनात्मक कार्यक्रमके प्रति शासकवर्ग और जनताकी केवल शाब्दिक सहानुभूति होनेके कारण उसमें निष्क्रियता आनेके साथ ही सरकारकी परस्परविरोधी नीतिने गांधीजीके सिद्धान्तों और उनके आचरणोंके मूलमें गहरी चोट पहुँचायी है। पिछले २१ वर्ष स्वराज्य-शासनके इतिहासपर ईमानदारीसे दृष्टिपात करनेपर इसकी जानकारी हुए बिना नहीं रह सकती।

अहिंसा गांधीजीके समग्र जीवन और राष्ट्र तथा प्रजाके उत्थानकी बुनियाद थी और स्वराज्यसे पूर्व कांग्रेस तथा आम जनताने इसका अनेक प्रकारसे अनुमोदन किया था। अहिंसाके अमोघ साधनसे जनताको अहिंसक स्वातन्त्र्य-संग्राममें सफल बनानेवाले इस कर्मयोगीके देहविलयके पश्चात् राष्ट्रकी शासननीतिमें अहिंसा केवल नाममात्रकी रह गयी है। इतना ही नहीं, वरं अहिंसा नीतिके नामपर हिंसक प्रवृत्ति बड़ी तीव्र हो गयी है। राजकीय क्षेत्रमें भी सत्ता और सम्पत्तिके लोभवश बहुत-से राजकीयपक्ष हिंसक साधनोंके द्वारा अपनी राजकीय महत्त्वाकाङ्क्षाको सफल बनानेके लिये पार्लमेंट, विधानसभा और स्वयं प्रधानमण्डलमें मन-वचन और कर्ममें भेदका निर्माण कर रहे हैं। और 'मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत्'की परिस्थिति बन गयी है। शासनके व्यवहारमें सत्य और अहिंसाके स्थानपर असत्य और हिंसाका प्रभाव जोर पकड़ रहा है। 'महाजनो येन गतः स पन्थाः'—इस न्यायके अनुसार जब नेताओंकी नीतिका स्तर नीचे उतर जाता है, तब अधिकारियों, पक्षों और आम जनताका नैतिक स्तर भी उसी धरातलपर रहनेके कारण नीचे उतर जाय—इसमें कोई आश्चर्य नहीं। इसीसे आज घूस-रिश्वत, छल-कपट, काले और धौले-धनके युगका आविर्भाव हो गया है। पिछले बीस वर्षोंमें तैयार हुई नयी प्रजाके सामने यही आदर्श होनेके कारण उसका इस नीचे आदर्शसे भी और अधिक नीचे जानेका प्रयत्न (करना) स्वाभाविक है।

इस अनिष्टके मूलमें सरकार और नेताओंके सिद्धान्त और शासन नीतिके भेद हैं। सरकार अन्ताराष्ट्रीय प्रतिष्ठाके भूतके कारण विदेशी सरकारों और निष्णातों (एक्सपर्टों)-के दबावसे भारतके विकासकी जो योजनाएँ बनी हैं, वे गांधीजीके सिद्धान्तों और भारतीय संस्कृतिके विरुद्ध विदेशी मान्यताओंके आधारपर बनी हैं। राष्ट्रकी संस्कृति, आबोहवा, लोकमानस और आर्थिक स्थितिकी ओरसे आँखें मूँदकर बनायी हुई ये योजनाएँ लाभदायक होनेके बदले हानिकारक सिद्ध हो रही हैं। राष्ट्र सैकड़ों वर्षोंतक भरपायी न कर सके, अथवा व्याजतक भी न चुका सके—इतने ऋणके बोझसे आज भारत भले ही राजकीय स्वतन्त्रता भोगता हो, पर आर्थिक स्वतन्त्रता तो खो चुका है। विकासनीतिमें स्वीकृत अमर्याद औद्योगीकरण और यन्त्रवादने मानवताके मूल्योंको घटानेवाली विदेशी हुंडियावनके भूखकी वेदीपर अहिंसा और गांधीवादके अनेक वाञ्छनीय सिद्धान्तोंका बलिदान कर दिया है। देशमें उत्पन्न होनेवाली प्रजाकी स्थानीय आवश्यकताकी उत्तम वस्तुओंको भी निर्यात करनेकी नीतिसे और विदेशोंसे वहाँ अनावश्यक बची हुई हल्की निकम्मी चीजोंके आयातसे प्रजाके स्थानीय जीवनमें असह्य मँहगी, बनावटी कमी तथा निम्न श्रेणीके खाद्यपदार्थोंद्वारा अनेक कठिनाइयाँ खड़ी हो गयी हैं।

जीवनस्तर ऊँचा उठानेकी भ्रामक धारणाओंसे खर्चका परिमाण बढ़ गया है, पर खाद्यपदार्थों और जीवनकी अन्य जरूरी चीजोंकी गुणवत्ता घटकर बनावटी तथा मिलावटी चीजोंका उपयोग करनेके लिये जनता मजबूर हो गयी है। जीवनकी आवश्यकताएँ जिस परिमाणमें महँगी होती हैं, उतने ही परिमाणमें व्यक्तिगत आय न बढ़नेके कारण जीवन-निर्वाहके लिये जनताको या तो अनीतिका आश्रय लेना और नीति-अनीति, पुण्य-पाप, अहिंसा-हिंसा तथा मानवताके भावोंको भूलना पड़ता है या आधे भूखे रहकर जीवनको संकुचित करना पड़ता है।

दूसरी ओर सरकारकी नीतिमें हिंसा-अहिंसाका विवेक न होनेके कारण शराब, मांसाहार और व्यापारके लिये प्रत्यक्ष हिंसा बढ़ती जा रही है। सरकारका जीवनस्तर ऊँचा उठानेका आदर्श पाश्चात्त्य रहन-सहनके अनुकरणरूप होनेके कारण जनताको पौष्टिक भोजन मिलनेके बहाने—मुर्गी-अण्डा, मछली-उद्योग और कसाईखाने बढ़ानेकी योजना बड़े पायेपर शुरू हो गयी है। किसी एक वस्तुका जब अनावश्यक उत्पादन बढ़ाया जाता है, तब उसकी खपत बढ़ानेके लिये कृत्रिम उपायोंसे काम लेना पड़ता है और सीधे रूपमें यदि उसका उपयोग नहीं बढ़ता तो उल्टी-सीधी रीतिसे उसका उपयोग बढ़ाना पड़ता है। मुर्गी-अण्डे, मछली तथा मांस और हत्याजनित पदार्थोंके विषयमें यही हुआ है। अण्डोंकी खपत उत्पादनकी अपेक्षा कम होनेसे मुर्गी छीलनेके कारखाने और वातानुकूल पेकिंग करके उसका निर्यात, मछलीका निर्यात, मछलीके पाउडरकी बहुत-से खाद्यपदार्थोंमें मिलावट, मछलीके तेलका साबुन, तथा अन्यान्य प्रकारसे उसका मिलावटमें उपयोग, मांस-खून-हड्डी और कतल किये हुए प्राणियोंके अङ्ग-उपाङ्गोंकी बनावटोंका निर्यात और खाद्यवस्तुओंमें इनकी मिलावट भी बढ़ रही है और अब उसको एक 'उद्योग'के रूपमें विकसित करनेके लिये विशाल यान्त्रिक कसाईखानोंका जगह-जगह निर्माण हो रहा है और गांधीशताब्दीके वर्षमें उनका उद्घाटन होगा!

हिंसाके इस व्यापारकी इतनेपर यहीं रुकावट नहीं होती। लाखों जीवित प्राणियोंका हिंसाके लिये विदेशोंमें निर्यात किया जा रहा है। ऐसे ही करोड़ों मेंढकोंके जीवित पैर काटकर उनका निर्यात किया जा रहा है। जानवरोंके ऐसे कृत्रिम उपयोगके लिये जब आवश्यक संख्यामें जानवर नहीं मिलते तब सूअर-पालन, मछली तथा इस प्रकारके निर्यातमें उपयोगी हों, वैसे पशु-पक्षियोंके पालनकी योजनाओंके पीछे करोड़ों रुपये होमे जा रहे हैं।

और यह सब हो रहा है गांधीशताब्दीमें। शराबबंदी गांधीशताब्दीमें शिथिल हो जाती है, कतल गांधीशताब्दीमें बढ़ायी जाती है, शीतलाके और वैसी ही मवादोंके टीके, जिनके गांधीजी विरोधी थे, वे गांधी-शताब्दीमें बाध्यतामूलक बन रहे हैं। परिवार-नियोजनके नामपर करोड़ों रुपये खर्च करके वेश्यावृत्तिको उत्तेजन गांधी-शताब्दीमें दिया जा रहा है। भ्रूणहत्या, जिसको प्रत्येक धर्ममें हिंसा माना गया है, उसे कानूनसे वैध बनाना गांधी-शताब्दीमें होता है। ग्रामोद्योग और लघु उद्योग, जो करोड़ों मनुष्योंकी रोजी-रोटीका साधन हैं, उसे उत्तेजन न देकर मृतप्राय बना देना भी गांधीशताब्दीमें होता है। राजाओंके बेहद खर्च और मौज-शौककी निन्दा करनेवाले आजके शासक, स्वयं विदेशी मेहमानोंको खुश करनेके लिये जंगलोंमें शिकारकी योजनाएँ गांधीशताब्दीमें बनाते हैं। छः सौ राजस्थानोंको मिटाकर आज नवाबीढंगसे रहनेवाले प्रधान-मण्डलों, राजदूतों और राजकीय वी०आई० पी० आदिके पीछे करोड़ों रुपये गांधीशताब्दीमें खर्च किये जाते हैं। गायकी हत्याको अपनी हत्या माननेवाले गांधीकी शताब्दीमें गायोंकी हत्या बढ़ती है। स्वराज्यप्राप्त करते समय भारतके हुए अङ्गभङ्गको अपना अङ्गभङ्ग माननेवाले गांधीकी शताब्दीमें भाषावाद, प्रान्तवाद, सीमावाद, जातिवादके रूपमें भारतको टुकड़े-टुकड़े किया जा रहा है और गरीबी दूर करने तथा धनी-गरीबोंके बीचकी दीवालोंको तोड़नेके उच्च आशयसे प्राप्त किये हुए इस स्वराज्यमें गरीबोंको अधिक गरीब, धनियोंको अधिक धनी बनाने और मध्यमवर्गके कुचले जानेका कार्य होता है—गांधीशताब्दीमें!

यों अनेक प्रकारसे गांधीशताब्दीमें ही गांधीजीके सिद्धान्तों और आदर्शोंका खून होनेपर भी गांधीजीकी शाब्दिक भक्तिसे शताब्दी मनायी जाय? यह मनानेवालेके लिये विचारणीय प्रश्न है और गांधीजीका गौरव बढ़ानेके प्रसङ्गमें! 'सबको सन्मति दो भगवान्।'

गायका अर्थ-शास्त्र*

(लेखक—श्रीहरिश्चन्द्र विद्यार्थी, बी० ए०, बी० टी०)

भारतीय परम्परामें गायका स्थान

गाय भारतीय सभ्यताका प्रतीक है। महात्मा गांधीने इसे भारतीय संस्कृतिकी कविताका नाम दिया है। उसका मूक, शान्त, सहनशील स्वभाव भारतीय और हिंदू-परम्पराका मूर्त्त रूप है। उसकी हत्या, उसको मारकर पेट-पालन या लाभका विचार मनमें लाना ही संसारपर अत्याचार करनेके तुल्य है। मनुष्यमात्रका सारे प्राणीमात्रसे सम्बन्ध जोड़नेवाली यही गौ-माता है।

गायकी रक्षा भारतीय इतिहासकी एक महान् परम्परा है। लाखों वर्षोंके लंबे आर्य-हिंदू राज्य-कालमें सहस्रों गौओंके सींगोंपर सोनेके खोल चढ़ाकर दान देनेके उदाहरण हैं। बड़े-बड़े यज्ञोंमें उपदेशकोंको सहस्रों गौ-दान देनेकी मिशालें हैं। गो-संवर्द्धन-पालनके लिये राजाओं, महाराजाओं, ऋषि-मुनियों, आश्रम तथा संस्था-संचालकोंके प्रयत्नोंका वर्णन है। गोहत्याको ब्रह्महत्या और भ्रूणहत्याके समान पाप बताया गया है। गो-हत्यारा न केवल राजकीय दण्ड—जो मृत्युतक था—पाता था, बल्कि उसे सामाजिक दण्ड भी दिया जाता था। समाजमें उसका स्तर गिर जाता था। उसका सर्वतोमुखी बहिष्कार हो जाता था।

इस परम्परापर भारतीय इतिहासमें प्रथम चोट मुसल्मानोंके आक्रमणोंसे आरम्भ हुई। इसकी रक्षामें लाखों हिंदू समरभूमिमें जूझे और जबतक मुसल्मान-शासकोंने गो-रक्षाकी व्यवस्था न की, तबतक उनके राज्यको कभी स्थिर न होने दिया गया। बाबरसे शाहजहाँके कालतक गो-हत्यापर प्रतिबन्ध लगा रहा। औरंगजेबने इसे हटाया, तो उसके जीते-जी ही उसकी देशव्यापी सल्तनतका अन्त हो गया।

अंग्रेजी कालमें मरहठों, जाटों, राजपूतों तथा रणजीतसिंहके साथ हुई सभी सन्धि-पत्रोंमें अंग्रेजी सरकारको गो-हत्या न करनेकी शर्त स्वीकार करनी पड़ी।

स्वतन्त्रता-प्राप्तिके प्रयत्नोंमें गोहत्या-निरोधकी भावनाने सदा ही प्रेरणा दी। मंगल पांडेसे लेकर वीर सावरकर और भगतसिंह तक सभी शहीद गो-भक्त रहे। स्वामी दयानन्दसे लेकर बाल गंगाधर तिलक और महात्मा गांधी तक सभी सुधारक, स्वतन्त्रताके आन्दोलनकर्ता और देशभरके विचारक गो-हत्या-निरोधमें एकमत रहे। जनतामें यह भावना उग्र थी कि स्वतन्त्रता प्राप्त होते ही भारत सर्वप्रथम गोहत्याको पूर्णतया रोक देगा।

मगर स्वतन्त्रता-प्राप्तिके पश्चात् भारतके स्वदेशी राजाओंके अधीन भागमें भी—जहाँ कभी गोहत्या नहीं हुई थी—गोहत्या होने लगी। सरकारने इसको प्रोत्साहन दिया और फलस्वरूप प्रतिवर्ष लाखों गो-वंशजोंकी हत्या होने लगी और हो रही है।

स्वतन्त्रता-प्राप्तिके गत दो दशकोंमें करोड़ोंकी संख्यामें गो-वध हुआ, इसको रोकनेके लिये सत्याग्रह हुआ, अनशन हुए, आन्दोलन चले—मगर श्रीजवाहरलाल और तत्पश्चात् उनकी पुत्री इन्दिराके शासनकालमें इस सम्बन्धी धार्मिक भावों, ऐतिहासिक परम्पराओं और सांस्कृतिक मूल्योंकी पूर्णतया अवहेलना ही की जाती रही है।

कांग्रेस सरकारोंने इस विषयमें केवलमात्र आर्थिक पक्षको अपने सामने रक्खा है और जनतामें भी इसी पक्षका प्रचार किया है। पर सरकारका यह पक्ष भी कितना निर्बल, गलत और थोथा है, इसपर ही इस लेखमें विचार किया जायगा।

गोवंशका आर्थिक पक्ष

गोवंश भारतकी अर्थ-व्यवस्थाकी नींवका पत्थर है। भारतका सामाजिक ढाँचा, भारतके घरेलू उद्योगोंकी आधारशिला यही गाय है। इसको निकाल देनेसे यह सारा ढाँचा ही ढह जायगा—जैसा कि आजकलकी आर्थिक परिस्थितियाँ—घृत, दुग्ध, अन्नकी कमी और खाद्यपदार्थोंकी महँगाईसे प्रकट है।

गोवंश—जातीय मूलधन है

भूमि (गो) की तरह गोवंश भी भारतमात्रका मूलधन है। मूलधनके अभावमें व्यवसाय, कारोबार, व्यापार सब समाप्त हो जाते हैं।

---

* पुस्तिकाके रूपमें प्रकाशित पता—अखिल भारतीय दयानन्द साल्वेशन मिशन, होशियारपुर (पंजाब)

सन् १९६५की पशु-गणनाके अनुसार भारतमें गोवंशकी संख्या १५,८६,५०,६२४या मोटे तौरपर लगभग १६ करोड़ थी।

यदि प्रत्येक गो-वंशजका औसत मूल्य १००) एक शत रुपया हो तो यह जातीय सम्पत्ति १६ अरब रुपये-की है।

सन् १९६१की पशु-गणनामें हमारा सारा गोधन १७,५६,७१,४८६ था या मोटे तौरपर साढ़े सत्रह करोड़ था। अर्थात् ५ वर्ष (१९६१–१९६५) में यह गोधन डेढ़ करोड़ संख्यामें कम हो गया। दूसरे शब्दोंमें हमने अपने मूलधन साढ़े सत्रह अरब रुपयोंमेंसे ५ वर्षोंमें डेढ़ अरब रुपये खो दिये।

हमारे पशु-धनकी वृद्धि २ प्रतिशत प्रतिवर्षके हिसाबसे होती है—अर्थात् हमारे गोधनका १९६१की संख्या साढ़े सत्रह करोड़ सन् १९६५ में १०% बढ़ जानी चाहिये थी। इनमें १ करोड़ ७५ लाखकी वृद्धि होनी थी जो हुई। मगर यह वृद्धि भी लुटा दी गयी। इसका मूल्य १ अरब ७५ करोड़ रुपये होता है।

इस प्रकार भारतीय जातिने अपने सन् १९६१के मूल-धनमेंसे सन् १९६५ तक डेढ़ अरब रुपयेका गोधन तथा एक अरब ७५ करोड़का गोधन खो दिया अर्थात् इन पाँच वर्षोंमें केवल अर्थकी दृष्टिसे भारतने गोवंश-हत्यासे सवा तीन अरब रुपये गँवाये।

जो व्यापारी अपने मूलधनको इस प्रकार बरबाद करे, उसकी दूकान कबतक चल सकेगी ! और उसे कौन व्यक्ति अर्थ विशेषज्ञ कहेगा ?

गोवंशपर आधारित व्यवसाय—दुग्ध

भारतमें सन् १९६५की पशु-गणनाके अनुसार १६ करोड़ गोवंशज हैं। (भैंसोंका या अन्य दूध आदि देने-वालोंका जिक्र इसमें नहीं है।) इनमें ८ करोड़ बछड़े-बछड़ियाँ हैं। शेष ८ करोड़में आधे बैल और आधी संख्या गौओंकी है। इस हिसाबसे भारतमें दुधारी गौओंकी संख्या ४ करोड़ है। गौ ४ माससे लेकर १८ मासतक दुग्ध देती है। औसत ६ मास भी रख लें तो सारे सालमें २ करोड़ गौएँ दूध देती हैं। यदि प्रत्येक दुधारी गायका दूध ४ सेर रख लिया जाय तो भारतभरमें ८ करोड़ किलो दुग्ध प्रतिदिन पैदा होता है। इसका इस समयका मार्केट मूल्य ८ करोड़ रुपया है। इस हिसाबसे केवल दुग्धसे—

एक दिनकी आय = ८ करोड़ रुपये
एक मासकी " = ८×३० करोड़ रुपये
एक वर्षकी " = ८×३०×१२ करोड़ रुपये
= २८८० करोड़ रुपये

या मोटे तौरपर लगभग उन्तीस अरब रुपये प्रतिवर्ष।

भारत सरकारके सब उद्योग मिलकर भी इतनी आय नहीं कर पाते। प्रायः सरकारी व्यवसाय तो घाटेपर ही चलते हैं। रेलवे और डाक-तारके विभाग भी मिलकर वर्षभरमें इतनी आय नहीं करते।

इस महान् आय-राशिका एक और पक्ष भी है। इसका वितरण भारतीय जनताके ९ करोड़ परिवारोंमें स्वतः ही हो जाता है। यह धन जातिमें आर्थिक असमानताकी समस्या खड़ी नहीं करता और उसका परिणाम वर्ग-संघर्ष भी इससे उत्पन्न नहीं होता।

दुग्ध-उत्पादन—एक घरेलू व्यवसाय

भारतके ९ करोड़ परिवारोंमेंसे यदि प्रति परिवारका एक व्यक्ति भी इस कार्यमें लगा हो तो इससे ९ करोड़ व्यक्तिको रोजगार मिल रहा है। इस उद्योगके विनाशसे इस कार्य-विहीन वर्गका क्या किया जायगा ? क्या सरकार इस समस्याका सामना करेगी ?

दुग्धसे रसगुल्ला, संदेश, बर्फी, पेड़ा, मावा आदि (हलवाई) के व्यापारमें भारतमें लगभग ३ करोड़ व्यक्ति लगे हैं। इनका व्यवसाय छीनकर सरकार इनसे क्या कराना चाहती है ? क्या ये साम्यवादी क्रान्ति लानेके साधन न बन जायँगे ? इससे रूस और चीनका रास्ता साफ हो जायगा और भारतकी स्वतन्त्रता टिक न सकेगी।

गोवंशकी उपज—गोबर

प्रत्येक गोवंशका वर्षभरका गोबर ४ टन होता है। गोबरमें २% फासफेट है, जब कि सिन्द्री आदि कारखानोंमें उत्पन्न खादमें फासफेट २०% रहता है, इस हिसाबसे एक मन विलायती खाद १० मन गोबरके बराबर है और १ टन विलायती खाद १० टन गोबरकी कीमतका है।

इस हिसाबसे इस समय एक टन गोबरका मूल्य ४० रु० बैठता है, अब जरा हिसाब लगायें—

गोवंशकी संख्या—　　१६ करोड़
वर्षभरका गोबर—　　१६×४=६४ करोड़ टन
वर्षभरके गोबरका मूल्य—६४×४०=२५६० करोड़ रु०

इस प्रकार केवल गोबर-ही-गोबर वर्षभरमें २५-२६ अरब रुपयेका है।

गोवंशका मूत्र

गोबरसे मूत्रका खाद-मूल्य अधिक है। यह जलीय पदार्थ है। सरलतासे ही भूमिमें चला जाकर फौरन ही अपना फल देता है।

प्रत्येक गोवंशज वर्षमें ३३४७ पौंड मूत्र देता है। यह डा० लैंटर, जो प्रसिद्ध विशेषज्ञ हैं, की गणनाके अनुसार है।

इस मूत्रमें ३० सेर नायट्रोजन
३२ „ फासफेट और
२८ „ पोटास होती है।

इनके तत्त्वोंकी मारकेट कीमत ५००) रुपये हैं। मगर इसे यदि एक शत रुपया ही मान लें तो—

गोवंश-संख्या—　　१६ करोड़
वर्षभरके मूत्रका मूल्य प्रति पशु—　　१०० रुपये
कुल मूल्य—　　१६ अरब रुपये

इस प्रकार केवल गोबर और मूत्रका मूल्य ४१ अरब साठ करोड़ रुपये हैं। गो-संतानके कुल मूत्रसे—

४०० करोड़ पौंड नायट्रोजन
२०० „ „ फासफोरस
४०० „ „ पोटासियम

वर्षभरमें उपलब्ध होते हैं। यह उपज सिन्द्री-जैसे १० कारखानोंकी उपजसे भी अधिक है और भारतमें सिन्द्रीका खाद उत्पादन कारखाना तो अपने समान आप ही है।

रुपयेके अवमूल्यनसे पहले हमारी सरकारने गत १७ वर्षोंमें इतना ही कर्ज विदेशोंसे उठाया था।

इस तरह यदि हम अपने गो-संतानका केवल एक वर्षका गोबर और मूत्र ही विदेशोंको दे दें तो हमारा सारा ऋण उतर जाता है और हम उऋण हो जाते हैं। दूसरे शब्दोंमें उस कर्जसे गत १६-१७ वर्षोंमें हमारी सरकारने जितने कल-कारखाने बनाये हैं, जितने भवन खड़े किये हैं, जितना औद्योगिक विकास किया है और इसमेंसे जितना धन भ्रष्टाचारी सरकारी अधिकारी खा गये हैं, वह सब गो-संतानके एक वर्षके गोबर और मूत्रके मूल्यका है। भारतीय खेतीकी उपजके लिये गोबर-मूत्र खाद अत्युपयुक्त है। विलायती खादसे उत्पन्न अन्न तथा सब्जी आदि स्वादहीन हो जाती हैं, खेत कुछ वर्षोंमें नाकारे हो जाते हैं। यह स्वदेशी खाद ग्राम-ग्राम, घर-घर, खेत-खेतमें उपलब्ध है—इसका वितरण देशव्यापी है, जब कि विलायती खादका वितरण भी भ्रष्टाचारमूलक है। ग्राम-ग्राममें पहुँचाना बहुत महँगा और कठिन कार्य है और किसानोंको पराश्रयी बनानेवाला है। विदेशोंसे मँगवाना अरबों रुपयोंका कर्ज बढ़ाना और स्वतन्त्रताको विक्री कर देना मात्र है।

गौका चमड़ा

गो-वंश १६ करोड़ है। यदि गौकी औसत आयु १६ वर्ष मान लें तो प्रतिवर्ष एक करोड़ पशु अपनी आयुसे मरेंगे। मारनेकी आवश्यकता न होगी। इनकी एक करोड़ खाल जूतोंके लिये प्राप्त होगी।

एक करोड़ कच्ची खालका मूल्य कम-से-कम ५० करोड़ रुपये हैं। देशमें यदि केवल प्रति परिवारमें २ जोड़े जूते भी प्रयोग हों तो हमें २० करोड़ जोड़े जूतोंकी आवश्यकता होती है।

पशु-खालोंको साफ करने, जूते योग्य बनाने, रँगने और उनके जूते आदि बनानेमें ३ करोड़से अधिक व्यक्ति कामपर लगे हैं। इनसे १५ करोड़ व्यक्तियोंके पालन-पोषणमें सहायता मिलती है। प्रत्येक जोड़ा जूताका मूल्य पाँच रुपये भी हों—जो बहुत कम है—तो इस व्यापारसे वर्षभरकी आय एक अरब रुपये होती है।

हमारी सरकार ४ करोड़ रुपयेके बूट रूसको और ३ करोड़ रुपयेके बूट अमेरिकाको भेजकर डालर कमानेपर फख्र करती है और इसके लिये लाखोंकी संख्यामें गो-संतानकी हत्या करवाती है। मगर इस ७ करोड़के बदले देशमें चल रहे एक अरब रुपयेके व्यवसायका ध्यानतक नहीं कर पाती!

इसी प्रकार स्वयं अपनी मौतसे मरे गोवंशके हड्डी, ताँत, खुर, सींग आदिके उद्योग चलते हैं, जिनसे पचासों करोड़ रुपयोंकी आय होती है।

बैल-शक्ति

भारतीय कृषिका मूल आधार बैल है। हमारी पौराणिक गाथाओंके अनुसार पृथ्वी बैलके सींगपर खड़ी है। हमारी आध्यात्मिक संस्कृतिके प्रतीक 'शिवजी'—जो भारतमाताका भी प्रतीक हैं—बैलपर सवार हैं। बैलके बिना भारतमें कृषि-कार्य असम्भव है।

हमारे पास कुल बैल ४ करोड़ हैं। खेतीमें लगे बैलोंकी शक्ति ५०,००० किलोवाट बिजली-शक्तिके बराबर है। इतनी बिजली-शक्तिके उत्पादनमें २,२०,००,००,००० गैलन डीजल तेल व्यय होता है। इसका मूल्य इस समय २६५ करोड़ रुपये हैं। इस प्रकार हमारी बैल-शक्ति दो अरब, पैंसठ करोड़ रुपयेकी है। इसकी अवहेल्ना करना राष्ट्रीय पाप है।

वैसे भी यदि हिसाब लगावें तो बैलकी एक दिनकी मजदूरीका मूल्य २॥ रुपयेसे कम नहीं। इस हिसाबसे ४ करोड़ बैल हमें १० करोड़ रुपयेका प्रतिदिन काम देते हैं या दे सकते हैं। यह तीन अरब मासिक या ३६ अरब रुपये वार्षिक आयका साधन है। इतनी शक्ति और इतनी आयकी उपेक्षा करना भारी राष्ट्रविरोधी कार्य नहीं तो क्या है?

बैल और कृषि-कार्य

एक हलमें २ बैल लगते हैं। ४ करोड़ बैलोंसे २ करोड़ हलकी खेती हो सकती है। सरकारी विशेषज्ञोंके अनुसार प्रत्येक जोड़ी बैल ७ एकड़ भूमि जोत सकता है। अतः हम अपनी बैल-शक्तिसे १४ करोड़ एकड़में ही खेती कर सकते हैं, अधिकमें नहीं।

सन् १९५६-५७ की सरकारी कृषि-रिपोर्टके अनुसार भारतमें खेती योग्य भूमि ४२,१५,२१,००० एकड़ है। इस ४२ करोड़ एकड़से अधिक भूमिको जोतनेके लिये हमें १२ करोड़ ४० लाख बैलोंकी आवश्यकता है। मगर हमारे पास हैं केवल ४ करोड़ बैल। केवल एक तिहाईसे भी कम। यही कारण है कि आज बैल इतना महँगा है कि बहुतसे गरीब किसान खरीद ही नहीं सकते।

क्या ट्रैक्टरोंसे खेती-कार्य सम्भव है?

भारतमें कृषि-कार्य ट्रैक्टरोंद्वारा सम्भव नहीं है। कृषि-योग्य भूमि छोटे-छोटे खेतोंमें बँटी है। ५० प्रतिशतसे भी अधिक किसानोंके पास २ एकड़से भी कम भूमिके खेत हैं। ट्रैक्टरके लिये मीलों लंबे-चौड़े खेत ही उपयुक्त होते हैं। जो किसान २०० रुपयेसे बैल खरीद करनेमें असमर्थ है, वह सहस्रों रुपयेका ट्रैक्टर कैसे खरीद करेगा? सरकारने सहस्रों ट्रैक्टर कर्जके रुपयेसे मँगाकर प्रयोगमें लानेका प्रयत्न किया; किंतु प्रायः वह बेकार हो गया; क्योंकि स्थानक तौरपर उनके कल-पुर्जे न मिल सके, खराब हो जानेपर उसकी मरम्मत न की जा सकी; छोटे खेतोंमें वे काम न दे सके। उनके प्रयोग करनेका व्यय साधारण कृषककी सामर्थ्यसे बाहर है। पहाड़ी खेतोंमें उनका प्रयोग सम्भव ही नहीं।

अतः भारतमें कृषि-कार्यका आधार केवल मात्र बैल ही है।

खाद्यान्नकी कमी और बैल

हमारी सरकार खाद्यान्नकी कमीको पूरा करनेके लिये अमेरिका आदि देशोंसे कर्ज लेती है, अन्न-खरीदपर अरबों रुपये व्यय करती है, अन्नका दान भी प्राप्त करती है, मगर इस कमीको पूरा करनेके लिये देशकी अन्नोत्पादन अवस्थामें उचित सुधार नहीं करती।

भारतमें अन्नकी कमी ७ प्रतिशत बतायी जाती है। अर्थात् हमारे पास १०० व्यक्तियोंमेंसे ९३ के लिये तो अन्न है, केवल ७ व्यक्तियोंको अन्न और देना है।

पहले तो यह कमी अत्यन्त साधारण है। इसका अर्थ है कि हम १४ परिवारोंका अन्न १५ परिवारोंमें बाँटकर खायें या १४ परिवार ही एक परिवारके लिये अन्न उत्पादन करनेकी सामर्थ्य बढ़ायें। यह थोड़ा-सा उचित प्रयास करनेसे हल हो सकता है।

हमारी ४२ करोड़ एकड़ भूमिमेंसे हम अपने ४ करोड़ बैलोंद्वारा १४ करोड़ एकड़ भूमि जोतते हैं एवं ६० लाख भैंसे (६०,६०,५५० पशु-गणना ५६-५७) हमारी २ करोड़ एकड़ भूमि तैयार कर सकते हैं। यदि १६ करोड़ एकड़ भूमिके बजाय हम १७/१८ करोड़ एकड़ भूमिमें अन्न उत्पन्न कर सकें तो हमारी अन्नकी कमीकी समस्या दूर हो सकती है।

अन्न-उत्पादनके लिये भूमि, पानी, बैल, बीज—इन चार वस्तुओंकी आवश्यकता है। भूमि और बीज हमारे

पास ही है। २ करोड़ एकड़ भूमि जोतनेके लिये हमें ५० लाख बैलोंकी और आवश्यकता है। हमारी सरकार यदि बैलोंकी हत्या बंद कर दे तो यह कमी शीघ्र पूरी हो जायगी। केवल बम्बई नगरके बूचड़खानामें एक वर्षमें १॥ लाख बैल मारे जाते हैं। कलकत्ता, कानपुर और अन्य नगरोंके आँकड़े जोड़ें तो यह संख्या बहुत अधिक हो जाती है।

हमारी सरकारके राज्यमें वर्षमें ७२ लाख गो-संतान मारी जाती है। इसमें बैल २५ लाखसे कम नहीं होते। यदि २ वर्ष भी गोहत्या बंद हो तो हमारी ५० लाख बैलोंकी कमी दूर हो सकती है। तब हम २ करोड़ एकड़ भूमिपर खेती करके अन्नकी कमी दूर कर सकते हैं।

पानीकी कमी दूर करना सरकारका काम है। हमारे पास हिमालय आदिपर बरफके रूपमें पानीके अनन्त भण्डार सुरक्षित हैं। नदियोंद्वारा जो पानी आता है, उसका हम २% भी प्रयोग नहीं कर पाते। ९८% पानी बहकर सागरमें चला जाता है।

सारे देशमें केवल ६ करोड़ एकड़ भूमि ऐसी है, जिसके लिये नहरों, तालाबों, कूपों आदिसे पानीका स्थायी और स्थिर प्रबन्ध है। यदि सरकार इस ओर ध्यान दे और केवल एक करोड़ एकड़में इसी प्रकारके पानीका स्थायी प्रबन्ध कर दे तो अन्नकी समस्या हल हो सकती है और यह कोई असम्भव कार्य नहीं है। लगभग एक अरब रुपयोंसे एक लाखसे अधिक तालाब, कूप, ट्यूबवेल आदिसे यह जल-प्रबन्ध किया जा सकता है। इसे प्राथमिकता मिले और लघु जल-सिंचाई योजनाके रूपमें इसका निर्माण हो तो यह बात बन सकती है।

हमारी सरकारकी नीति

खेतीको बढ़ानेके लिये, अधिक अन्न-उत्पादनके लिये, देशको आत्मनिर्भर बनानेके लिये और देशमें व्यापक बेरोजगारीको दूर करनेके लिये गो-वंशकी रक्षा प्रधान साधन है। मगर भारत सरकार इनको मारनेकी ही योजना बनाती है और इनकी संख्या कम करती जा रही है, जिसका परिणाम हम देख रहे हैं।

गो-संतानकी हत्याकी संख्या

सन् १९६१की पशु-गणनामें गो-संतानकी कुल संख्या १७,५६,७१,४८१ थी। सन् १९६५में यह संख्या १५,८६,५०,६२४ हो गयी। अर्थात् ५ वर्षमें यह संख्या १,७०,२०,८५७ कम हो गयी। गो-संतान २% प्रति वर्षके हिसाबसे बढ़ती है। इस हिसाबसे यह १०% या १,७५,६७,१४८ इतनी बढ़ जानी चाहिये थी। मगर गो-हत्यासे यह भी कम हो गयी। अतएव कुल संख्या ३,४५,८८,००५ कम हुई।

यह कमी या हत्या ५ वर्षकी है। एक वर्षमें इस हिसाबसे ६९,१३,६०१ लगभग ७० लाखकी हत्या की जाती है या प्रति मास ६ लाखसे कुछ कम या प्रतिदिन बीस हजारके लगभग गो-संतान मारी जाती है। यदि केवल आर्थिक दृष्टिसे ही देखा जाय तो भी भारतकी मूल-भूत पूँजी-मेंसे प्रतिदिन २० लाख रुपये कम हो जाते हैं।

इन मारे जानेवाले पशुओंमें कम-से-कम १० सहस्र बैल होंगे, जिनकी प्रतिदिनकी कमी हमारी पाँच हजार हलों-को प्रतिदिन नाकाम बना देती है और ३५ हजार एकड़ भूमि जोतनेकी शक्ति कम हो जाती है। यदि प्रति एकड़में ३ मन भी अन्न उत्पन्न होता हो तो प्रतिदिन एक लाख मन अनाज-की उत्पादनशक्तिकी हानि हम कर रहे हैं।

इसपर भी देशमें यदि अन्नकी कमी हो तो उसके लिये हैरान होनेकी कोई बात नहीं है। वृक्षकी जिस शाखापर हम खड़े हैं और उसे ही काट रहे हैं तो हमारा गिर जाना तो अवश्यम्भावी है। अपनी करनीका ही तो फल है!

गो-मांस-उत्पादनकी योजना

जवाहरलालजीने योजना आयोग बनाकर रूसकी नकल की। क्रमबद्ध योजनाओंद्वारा देशका उत्पादन बढ़ाना इस आयोगका काम है, इसने गो-मांसके उत्पादनकी भी एक क्रमबद्ध योजना बना रक्खी है, वह इस प्रकार है—

प्रथम योजना १९६१—६६	गोमांस उत्पादन = १,१८,७५,००० मन
दूसरी योजना १९६७—७२	,, ,, = ३,९२,७५,००० मन
तीसरी योजना १९७२—७७	,, ,, = ६,५६,२५,००० मन
चतुर्थ योजना १९७७—८२	,, ,, = ७,१०,५०,००० मन

ये आँकड़े केवल गो-मांसके हैं, अन्य प्रकारका उत्पादन इससे अलग है। आजकल दूसरी योजना चालू है, इसमें

सरकार ४ करोड़ मन गो-मांस तैयार करके डालर कमानेकी आशा करती है। यदि औसतन एक पशुसे एक मन मांस भी उपलब्ध हो तो इसके लिये ४ करोड़ गो-संतान मारी जायगी। प्रति वर्ष यह संख्या भी ७५–८० लाख ही बनती है और हमने पिछले आँकड़ोंसे देखा ही है कि इसी हिसाब-से ही गो-संतानें मारी भी जा रही हैं। यह भी प्रतिदिन २० हजारके लगभग ही बनता है।

सरकारके व्यापार-निगमकी योजना

सरकारने भारतकी व्यापारिक उन्नति और मालकी निर्यातको बढ़ानेके लिये एक व्यापार-निगम (Trade Corporation) बना रक्खा है। इसकी निर्यातमें बूटोंकी निर्यात भी एक वस्तु है। इस निगमकी एक बहुत बड़ी सफलता यह बतलायी जाती है कि इस वर्ष यह ३ करोड़, ३० लाख रुपयेके बूट अमेरिकाको और ४ करोड़, ५० लाख रुपयेके बूट रूसको भेजेगा। कुल ७ करोड़, ८० लाख रुपयेके ये सौदे हैं। यदि एक जोड़े बूटकी कीमत १६ रुपया भी लगा ली जाय तो ५३ लाखसे अधिक बूट जोड़े बाहर भेजे जायेंगे और यदि एक गौकी खालसे १० जोड़े बूट भी तैयार होते हों तो इसके लिये ५ लाख, ३० हजार गो-संतानका मारना आवश्यक होगा; क्योंकि मरे हुए जानवरोंकी खालसे बूट नहीं बनेंगे। मारे गये जानवरोंका ही चमड़ा नरम होता है और उसीसे ये बूट बन सकते हैं और बनेंगे। यदि यह आर्डर वर्षभरमें पूरा कर देना आवश्यक है तो केवल इसके लिये ही ४४ सहस्र पशु प्रतिदिन वध करना आवश्यक होगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे अर्जुनको केवल पक्षीकी आँख ही दीखती थी, वैसे ही हमारी सरकारको भी केवल विदेशी डालर ही दिखायी देता है और कोई भी बात इसे नजर ही नहीं आ रही है!

अमेरिका गोमांस और बूट भारतसे क्यों मँगवाता है?

इस सम्बन्धमें प्रश्न उठता है कि अमेरिकन लोग मांसाहारी हैं, उनके अपने ही पशु-धनकी कमी भी नहीं, औद्योगिक उन्नतिमें अमेरिका भारतसे बहुत आगे है, तो फिर वह यहाँसे गोमांस और बूट क्यों मँगवाता है? सरकारके अर्थशास्त्री कहते हैं कि अमेरिका भारतकी भलाई चाहता है। इसलिये अपनी हानि करके भी भारतके व्यापारको उन्नत कर रहा है। आओ देखें तथ्य क्या है?

अमेरिकामें २ करोड़, ४० लाख गाय दुग्ध-उत्पादनके लिये सुरक्षित हैं। इन्हें इसीलिये पाला जाता है। अमेरिकामें चरागाहें बहुत हैं, मगर इन गायोंके लिये सरकारी तौरपर ४ करोड़, ८० लाख एकड़ भूमि सुरक्षित है। इसमें केवल गो-संतानके लिये चारा ही उत्पादन किया जा सकता है। इसका परिणाम यह है कि वहाँ दुग्धका उत्पादन काफी है। वर्षभरमें ९८ अरब, २५ करोड़ पौंड दुग्ध पैदा होता है। उसकी लगभग २० करोड़की जनसंख्या यदि एक पौंड प्रत्येक व्यक्तिके हिसाबसे भी दूधका प्रयोग करे तो ७२ अरब पौंड दुग्ध देशमें व्यय हो जायगा। फिर भी २६-२७ अरब पौंड दुग्ध बच जायगा। इसके लिये मंडीकी आवश्यकता है। इसका दुग्ध-चूर्ण २½ अरब पौंड बनता है जिसकी बिक्रीकी फिक्र अमेरिकाको है।

संसारमें यह मंडी केवल भारत ही बन सकती है। यहाँ दूध पीने और खानेकी परम्परा है। मगर गोवंशके पलनेसे यहाँ भारतका अपना दूध हो तो अमेरिकन दूध कैसे बिके? इसलिये अमेरिकन और यूरोपीय अर्थशास्त्री इस प्रचारमें लगे कि 'भारतका पशु-धन इसपर बोझ है, इसकी दरिद्रताका यह कारण है। गोमांस न खाना भारतवासियोंका फूहड़पन है। प्राचीनकालके आर्य गोमांस खाते थे, फालतू जानवर मारे जाने चाहिये आदि-आदि।' अमेरिकाने चमड़ा खरीदा, बूटोंके आर्डर दिये, गोमांसकी माँग की, बूचड़खानोंके लिये आधुनिकतम मशीनें मुफ्त देनेका प्रस्ताव किया, ग्राम-विकास-के नामपर गोचरभूमियोंपर हल फिरवा दिये और गो-हत्यापर डटे रहनेके लिये इन्दिरा सरकारकी वाहोवाही की तथा गोहत्या-निरोध सत्याग्रहको प्रतिक्रियावादी अपरिवर्तनशील स्वभावी कहा।

उधर लाखों पौंड दुग्ध-चूर्ण मुफ्त भेजा कि लोगोंको इसके प्रयोगकी आदत बने और गायका वंश नाश हो। दुग्धका अभाव हो तो भारतकी मंडी उसके हाथ लग जाय। एक बार यदि यह मंडी उसके हाथ आ जाय तो अगली-पिछली सब कसर निकाल ली जायगी।

कोई समय था जब अंग्रेजी चाय-कम्पनियाँ चाय मुफ्त पिलाती थीं, पिरच-प्यालियाँ मुफ्त देती थीं। मगर जब भारत चाय पीनेका आदी हो गया, तो वही चाय २० पैसा और चार आना कप बिक्री होने लगी है।

यही हाल दुग्ध-चूर्णका होगा।

अनुत्पादक पशु-समस्या

सरकारका एक और दावा यह है कि भारतमें अनुत्पादक पशु-संख्या बढ़ी है। यह सब चारा और अन्न खा जाते हैं। इनके ही कारण पशु-पालन अच्छी तरह नहीं हो पाता और अन्न महँगा हो रहा है। अतः इनका मारा जाना आवश्यक है। सरकारका कथन है कि उत्पादक पशुओंका मारा जाना बंद है। केवल अनुत्पादक, फालतू जानवर मारे जाते हैं। मगर यह भी एक बहाना है। मिथ्या बात है। कैसे ? सरकारी आँकड़े ही इसे प्रमाणित करते हैं—

(१)

अनुत्पादक पशु २% हैं। अर्थात् १०० पशुओंमें केवल २ पशु अपंग, बूढ़े या अनुत्पादक हैं। पहले तो यह कोई समस्या ही नहीं। भारतमें तीन अरब एकड़से भी अधिक भूमि है। ४१ करोड़ एकड़ भूमि केवल नदी-नालों, रेलवे, सड़कों आदिमें लगी है। ये पशु इस सारी भूमिमें फैले हैं, चरकर अपना पेट पाल लेते हैं। किसीपर इनका भार नहीं। जिस किसान या पशु-पालकके पास १०० उत्पादक पशु हों, वह कभी इन अनुत्पादक पशुओंका ध्यानतक भी नहीं करता। यह एक बनावटी समस्या है, जो केवल सरकारके कागजोंमें तो है, मगर देशमें नहीं है।

(२)

सरकारी आँकड़ोंके अनुसार सन् १९६१की पशु-गणनामें १६ करोड़ गो-संतानमें २६,५०,७३५ अनुत्पादक थे। इन २६ लाख गो-संतानपर देशके ९,५४,२६,४६० रुपये वर्षभरमें खर्च हुए। मगर इनके गोबर, मूत्र आदिकी आय वर्षभरकी १२,७२,३५,२८० रुपये थी।

अर्थात् ३,१८,०८,८२० रुपयोंकी बचत हुई। मरनेपर इनका चमड़ा, अस्थिपञ्जर, सींग, खुर, आदि सभी चीजें काममें आती हैं। उपर्युक्त ३ करोड़ वार्षिक आयसे यह लाभ अतिरिक्त है। ऐसी अवस्थामें इनको अनुत्पादक संज्ञा देना केवल अज्ञान है।

(३)

सरकारका यह कथन भी झूठ है कि केवल अनुत्पादक पशु ही मारे जाते हैं। देखिये, सरकारके ही आँकड़ेसे यह असत्य सिद्ध होता है—

१९६१की पशु-गणनामें गोवंशज १७,५६,७१,४८१ थी और इनमें अनुत्पादक पशु २६,५०,७३५ थे।

सन् १९६५की पशु-गणनामें गोवंशकी संख्या १५,७६,५०,६२४। अनुत्पादकोंकी संख्या २७,६३,०४२ थी। अर्थात् साढ़े सतरह करोड़में साढ़े २६ लाख फालतू थे, मगर पौने १६ करोड़में फालतू पशु साढ़े २७ लाखसे भी बढ़ गये। पाँच वर्षमें गोवंशकी संख्या २ करोड़के लगभग कम हो गयी; मगर अनुत्पादकोंकी संख्या कम होनेकी बजाय दो लाखसे अधिक बढ़ी। इसके अर्थ स्पष्ट हैं कि केवल उत्पादक पशु मारे गये। अनुत्पादक कहे जानेवाले पशु मारे नहीं गये। सरकार गलत बोलती है।

एक और प्रमाण भी है

भारतमें अनुत्पादक पशु-संख्या २% है। जिन प्रान्तोंमें गोवधपर पाबंदी है, उनमें फालतू गो-संतानकी संख्याका अनुपात यह है—

जम्मू कश्मीरमें	०.३०%
राजस्थानमें	१.२२%
बिहारमें	१.७२%
मध्यप्रदेशमें	१.५१%
मैसूरमें	२.१५%
पंजाबमें	०.०७%
उत्तरप्रदेशमें	०.७८%

जिन राज्योंमें गो-हत्यापर रोक नहीं है, उनमें अनुत्पादक गो-संतानका अनुपात इस प्रकार है—

आसाम	४.३६%
मद्रास	५.२८%
आन्ध्र प्रदेश	३.३४%
पश्चिम बंगाल	२.४७%
कुल भारत	२.००%

यदि अनुत्पादक जानवर मारे जाते तो उन राज्योंमें, जहाँ हत्यापर रुकावट नहीं, इनकी संख्या नहींके समान होनी चाहिये थी और जिनमें प्रतिबन्ध है, उनमें यह अधिक होनी चाहिये थी। मगर है पूर्णतया इसका उल्टा।

जिनमें रुकावट नहीं, वहाँ केवल उत्पादक गो-

संतानका ही घात होता है। तभी तो फालतू संख्या अधिक है।

उपसंहार

विस्तार-भयसे गोवंश-रक्षा और गोहत्या-सम्बन्धी और बहुत-सी बातोंको छोड़ दिया गया है। विज्ञ पाठक दालके एक दानेको देखकर सारी दालकी अवस्था जान जाते हैं।

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी महाराजने 'गो-करुणानिधि' नामकी पुस्तकमें गो-दुग्धपानसे भूख-निवृत्ति और मनुष्य-पालन-का हिसाब लगाया है। ऐसे ही खालोंका निर्यात, खली आदि गो-भोजनका निर्यात, गोचरभूमिका विनाश, जंगलमें पशु-चराईपर अंकुश, जंगलके घासका २०% का व्यर्थ नाश, गोदुग्धकी बच्चों, स्वस्थों, रोगियों और जातीय स्वास्थ्यके लिये आवश्यकता, गोमांसभक्षणसे हानि और रेप-वरम आदि भयानक रोगोंकी उत्पत्ति आदि कई विषयोंपर सरकारी आँकड़ोंसे ही गोवंशके विनाशकी नीतिके खोखलापनको सिद्ध किया जा सकता है।

फिर इसका सामाजिक, आध्यात्मिक, ऐतिहासिक तथा धार्मिक पक्ष भी नहीं लिया गया है। केवल आर्थिक पक्षके कुछ पहलू विचाराधीन लाये गये हैं।

विज्ञ पाठक इसीसे सत्य-असत्य तथा देशकी लाभ-हानि आदिका अनुमान लगा सकेंगे।

गोदुग्ध अमृत है

(लेखक—डॉ० श्रीश्याममोहनजी कपूर)

मैं एक एलोपैथिक चिकित्सक हूँ। मेरे पास एक महिला, जो सरकारी कर्मचारिणी हैं, इलाजके लिये आयीं। इन्हें सभी अच्छे डाक्टरोंने एक्सरेद्वारा जाँचकर तथा स्वयं मैंने भी तपेदिककी बीमारी बतायी। इनके दोनों फेंफड़ोंमें व्रण हो गये थे। कई एक अस्पतालोंने तो इन्हें आखिरी स्टेज होनेके कारण भरती भी नहीं किया और घर जानेकी अनुमति दी।

ये निराश होकर मेरे पास आयीं और बोलीं—'मेरा शरीर सैकड़ों इन्जेक्शनोंसे जर्जर हो गया है और खर्च तथा गरीबीके कारण मेरी नाकमें लौंग भी नहीं रह गयी है।' मेरा हृदय भी इनकी दुर्दशा देखकर द्रवित हो गया। भगवत्स्मरण किया और प्रार्थना की—'भगवन्! इनका कष्ट अवश्य दूर हो।' उनकी प्रेरणा-से मैंने इन्हें गायका दूध, जितना पी सकें, पीनेको कहा तथा दो दवाइयाँ खानेको बतायीं। इन्होंने एक गाय खरीद कर उसकी सेवा करना शुरू किया तथा एक सेर दूध प्रातः, एक सेर सन्ध्याको पीने लगीं। पंद्रह दिनोंके भीतर इनका स्वास्थ्य काफी सुधर गया तथा बुखार-खाँसी सब गायब हो गये। दो मासमें ये बिल्कुल स्वस्थ हो गयीं और अबतक सरकारी काम कर रही हैं। बीमारीसे पहले इनके तीन पुत्रियाँ थीं। उसके बाद इनके एक पुत्ररत्न हुआ, जो पूर्ण स्वस्थ है।

यह है गोमाताकी कृपा तथा उनके दूधका महत्त्व। मैंने जिन-जिन भीषण रोगोंके रोगियोंको गो-दुग्ध दिया, वे सब स्वस्थ हो गये, खासतौरपर क्षय-रोगमें।

समस्त वैद्यसमुदाय तथा ऐसे रोगियोंसे प्रार्थना है कि वे इसका अनुभव करें और लाभ उठायें।

सत्संग-वाटिकाके बिखरे सुमन

१—जब भगवान्‌को प्राप्त करनेकी तीव्रतम अभिलाषा, अनन्य कामना उत्पन्न हो जाती है, तब भगवान्‌के अनुकूलका आचरण और प्रतिकूलका वर्जन अपने-आप हो जाता है। जब साधकके प्राण रो उठते हैं, क्रन्दन करने लगते हैं, उसके अन्तरमें भीषण ज्वाला धधक उठती है—भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये, तब उसके लिये सब-कुछ त्याग कर देना सहज हो जाता है।

२—साधक यदि अपनी साधनाके मार्गपर चलता हुआ इधर-उधर ताकता है तो वह इधर ही रह जाता है, लक्ष्यतक नहीं पहुँच पाता। साधक वस्तुतः न तो प्रलोभनोंमें पड़ता है, न भयसे डरता है। वह संसारमें रहते हुए भी संसारका नहीं रहता है, वह जीवित ही मर जाता है। वह संसारके कामका नहीं रह जाता; संसार उसके कामका नहीं रह जाता है। वह संसारके लिये मर जाता है; संसार उसके लिये मर जाता है।

३—वैराग्यके दो रूप हैं—समल वैराग्य एवं विमल वैराग्य। किसी सांसारिक प्रतिकूलताको लेकर जो वैराग्य होता है, वह समल वैराग्य है। उसमें अनुकूलताका अनुसंधान मनमें रहता है। यही मल है। विमल वैराग्य वह है जिसमें वास्तविक रूपमें विषयोंमेंसे आसक्ति उठ जाती है—वितृष्णा हो जाती है लोक-परलोकके समस्त भोगोंमें। दुःख-दोष-दर्शनजनित वैराग्य तथा भोगोंकी सत्ताके अभावका वैराग्य—ये दोनों उसमें कारण होते हैं। वस्तुतः उसका वैराग्यमें राग हो जाता है, ठीक वैसे ही जैसे रागीका संसारमें राग है। इनमें सत्ताके अभावके वैराग्यको ही 'पर वैराग्य' कहते हैं।

४—साधकके लिये यह सर्वप्रथम आवश्यक है कि वह अपने नामरूपको भगवान्‌के अर्पण कर दे। जगत्‌के जितने कार्य हैं, उनका लक्ष्य होना चाहिये—भगवत्प्राप्ति और किये जाने चाहिये साधनाकी दृष्टिसे ही।

५—जो किसीका दास है और किसीको अपना दास बनाता है, वह भगवान्‌का दास नहीं हो सकता। भगवान्‌का दास न किसी अन्यका दास है और न वह किसीको अपना दास बनाता है।

६—पूर्ण समर्पणका उदाहरण है—नचानेवालेके हाथकी कठपुतली।

७—जो अच्छे काममें लगे हुए व्यक्तिको आह्लादके साथ, आनन्दके साथ, सुखके साथ उसीमें लगाये रहता है, उसे सखा कहा जाता है। वास्तविक सखा वे हैं जो एक-दूसरेको उत्साह दिलाते हैं भगवान्‌की ओर बढ़नेमें।

८—साधन वह है जो हमें जगत्-प्रपञ्चसे हटाकर भगवान्‌की ओर लगा दे।

९—मनमें जहाँ जगत् बसा है, वहाँ भगवान्‌को बसाना है; मन जहाँ जगत्‌में लगा है, वहाँ उसे भगवान्‌में लगाना है। यही साधना है।

१०—जगत्‌में जीना क्यों है ? भगवान्‌को पानेके लिये; जगत्‌में काम क्यों करना है ? भगवान्‌को पानेके लिये।

११—भगवान्‌के समर्पित जीवन होनेपर मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर, त्रिविध भाव, त्रिविध गुण, सारे द्वन्द्व—ये सब-के-सब साधकका पिण्ड छोड़ देते हैं, उसे मुक्त कर देते हैं अपने पाशसे तथा वह साधक देखता है—अपना निर्मल सम्बन्ध केवल भगवान्‌के साथ।

१२—जितने-जितने भगवान् हमारे जीवनमें भरेंगे, उतना-ही-उतना जगत् हमारे जीवनसे हटता जायगा। अतएव निरन्तर भगवान्‌को जीवनमें भरते रहनेका प्रयत्न करना चाहिये।

१३—भक्तकी चाह, भक्तका दैन्य एवं भगवान्‌की कृपापर विश्वास—ये तीन चीजें जहाँ हैं, वहाँ निश्चित-रूपमें भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हुए बिना नहीं रहती।

१४—साधना स्वसंवेद्य है—अपने-आप अनुभव करनेकी वस्तु है। बाहर जो वस्तु दीखती है, वह अंदर हो ही—यह आवश्यक नहीं है। साधना अंदरकी वस्तु है; वह अनुभवरूप है।

१५—मनुष्यका सबसे अच्छा साथी है वह सत्-साहित्य—जो उसे सत्स्वरूप भगवान्‌से जोड़ देता है।

१६—मनका जगत्‌के भोगोंमें न रहकर, भगवान्‌में रमे रहना—असली साधन यह है।

१७—'मैं' और 'मेरे' को लेकर ही जगत्‌का बन्धन है। अतएव इन दोनोंको भगवान्‌से जोड़ दें। 'मैं' भगवान्‌का दास और भगवान्‌के चरणकमल 'मेरे'। 'मैं' और 'मेरे' के स्थापनके ये वास्तविक स्थान हैं।

१८—भगवान्‌का प्रेमी भक्त भगवान्‌से पृथक् रहता हुआ भी नित्य भगवान्‌के साथ रहता है।

१९—अशुभका सम्पर्क मन-इन्द्रियोंको, जहाँतक हो सके, न होने दें। भगवान्‌से सम्बन्ध न रहना और विषयोंमें रचे-पचे रहना ही अशुभ है।

२०—चित्तका प्रवाह जहाँ भक्तिका नाम रखकर भी दूसरी ओर बहता है, भगवान्‌की ओर नहीं; वहाँ वह भक्ति नहीं है।

२१—भगवान्‌को प्राप्त करनेकी साधनामें चित्तको बना देना पड़ता है, केवल भगवान्‌का दास और इसके लिये जगत्‌को छोड़ देना पड़ता है। वास्तवमें जगत्‌को छोड़ना नहीं पड़ता, जगत् अपने-आप छूट जाता है। जैसे अँधेरे मकानमें दीपक जलानेसे जितनी दूरतक दीपकका प्रकाश पहुँचता है, उतनी दूरसे अँधेरेको हटाना नहीं पड़ता, अपने-आप अँधेरा हट जाता है। वैसे ही चित्तमें जितने भगवान् आते हैं, उतना ही जगत् चित्तसे हटता जाता है।

२२—जो जगत्‌का चिन्तन करता है, उसका चित्त जगत्‌रूप है और जो भगवान्‌का चिन्तन करता है, उसका चित्त भगवद्रूप है; उसमें जगत् आ नहीं सकता।

२३—द्वन्द्वका नाम ही जगत् है अर्थात् परस्पर-विरोधी वस्तु, भाव, परिस्थिति—जैसे मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, शुभ-अशुभ, मित्र-वैरी, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदिका नाम ही जगत् है और जबतक द्वन्द्व हमपर छाये हुए हैं, तबतक यही मानना चाहिये कि जगत् हमपर छाया हुआ है। फिर हम चाहे जगत्‌के बाहर ही अपनेको क्यों न कहें।

२४—जन्म-मृत्युकी परम्पराको बंद करनेका उपाय क्या है? चित्तमेंसे जगत्‌को निकाल दो तथा उसमें भगवान्‌को भर दो।

२५—जगत् मनसे निकला कि नहीं, इसकी जाँच दूसरा नहीं कर सकता, स्वयं ही कर सकता है। जितने-जितने राग-द्वेष, हर्ष-उद्वेग आदि मनसे निकलते हैं, उतना-ही-उतना जगत् चित्तसे निकलता है—यह सिद्धान्त है। बस, इस कसौटीपर अपने चित्तको परखना चाहिये।

२६—भगवान् जगत्‌की फँसावटवाली वस्तुएँ अपने भक्तोंको बहुत कम देते हैं। कहीं-कहींपर कोई भक्त अड़ जाता है तो वहाँ देनी पड़ती है, पर वहाँ उन्हें उसकी सँभाल करनी पड़ती है। यह भगवान्‌का स्वभाव है। पर वास्तवमें माँगनेपर भी भगवान् जगत्‌में फँसावटवाली वस्तु देना नहीं चाहते।

२७—जिसका चित्त अनुकूलके विनाश एवं प्रतिकूलकी प्राप्तिमें शोक करता है तथा अनुकूलकी प्राप्तिमें और प्रतिकूलके विनाशमें हर्षित होता है, उसका चित्त जगत्‌को पकड़े हुए है—यह कसौटी है।

२८—चित्त जब जगत्‌को छोड़ने लगे, तब समझना चाहिये कि हम भगवान्‌के रास्तेपर हैं।

२९–जिस प्रकार पूर्वकी ओर जानेकी बात करनेवालेका मुँह जब पश्चिमकी ओर है तथा वह उधर ही चल रहा है, तो वह पूर्वमें जा ही नहीं सकता। इसी प्रकार भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी बातें करनेपर भी यदि हमारा मन जगत्को पकड़े हुए है, द्वन्द्वोंमें हमारा मन फँसा है, तो हम जगत्में ही हैं। हमारी ऊँची बातोंसे हमें कुछ भी लाभ नहीं।

३०–शान्ति न किसी आश्रममें मिलती है, न किसी संतके पास, न किसी मन्दिरमें और न किसी स्थान-विशेषपर। जो भगवान्की बातपर विश्वास करेगा, जो कामना, स्पृहा, अहंता, ममताको छोड़ेगा उसे शान्ति मिल जायगी—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।
(गीता ५। २९)

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
(गीता २। ७१)

शान्ति अपने अंदर है तथा नित्य है। हम नित्य शान्तिके अंदर रहते हुए भी अशान्त हो रहे हैं—यह मूर्खता है।

३१–हमारा अन्तर जहाँ है, वहीं हम हैं और जहाँ हम हैं, वही हमारा स्वरूप है।

३२–जबतक खुद नहीं समझा, तबतक दूसरोंको समझाना-बुझाना बेकार है।

३३–भोगासक्ति इतनी बद्धमूल हो रही है कि हमारी वृत्ति संसारको छोड़ती ही नहीं। छोड़ती इसलिये नहीं कि भगवान्को पकड़ती नहीं। यदि वह भगवान्को पकड़ने लगे तो जगत् अपने-आप छूट जायगा—उसे छोड़ना नहीं पड़ेगा। पर स्थिति ऐसी हो रही है कि हमलोग जब भगवान्की बात भी करते हैं तभी जगत्को साथ रखकर ही करते हैं, जगत्को छोड़कर नहीं।

३४–मनमें भगवान्के आनेसे द्वन्द्वोंका प्रभाव उसपर नहीं पड़ता। ऊपरसे स्थिति कुछ भी हो, पर वह द्वन्द्वोंसे प्रभावित नहीं होता।

३५–भोगरूपी खेतोंसे दुःखरूपी फल ही उत्पन्न होंगे—यह निर्भ्रान्त सिद्धान्त है। जो व्यक्ति इस सिद्धान्तको जान गया है, वह वास्तविक बुद्धिमान् है। वह कभी भोगोंमें प्रीति नहीं करता।

३६–मरनेसे पहले-पहले भगवान्को प्राप्त कर लेना चाहिये अथवा कम-से-कम उनको प्राप्त करनेके साधनमें तो लग जाना चाहिये ही। मृत्यु न जाने कब आ जाय, अतएव तुरंत लग जाना चाहिये।

३७–जो व्यक्ति अपेक्षारहित है अर्थात् भगवान्के अतिरिक्त जिसे कुछ भी नहीं चाहिये, वह शान्त है। यदि ऐसा नहीं है तो चित्त निरन्तर अशान्त और विषादयुक्त रहता है तथा पापोंमें उसकी गति उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती है।

३८–समर्पणसे प्रेमकी साधना आरम्भ होती है, पर ध्यान रखना चाहिये कि कहीं मद (अभिमान) न उत्पन्न हो जाय। मैंने भगवान्के प्रति अपनेको समर्पित कर दिया, इसलिये भगवान् मुझपर बड़ा स्नेह करते हैं। ऐसी वृत्ति उदय होनेसे दूसरोंके प्रति तुच्छताकी वृत्ति उत्पन्न होनेकी सम्भावना है और उस स्थितिमें जाने-अनजाने उसके द्वारा दूसरोंका तिरस्कार होता है, जो भगवान्का ही तिरस्कार है।

३९–भगवान्को जिसे पाना है, उसे यह बात ध्यानमें कर लेनी चाहिये कि 'भगवान्को ही पाना है' तथा 'भगवान्से ही पाना है।' उसे भगवान्के अतिरिक्त फिर किसी भी दूसरी वस्तुकी तथा किसी दूसरेसे उसे पानेकी अपेक्षा नहीं रहनी चाहिये।

४०–साधकको चाहिये कि वह निरन्तर अपने मनको देखता रहे तथा कामनाका दोष, अभिमानका दोष झाँकने लगे तो समझ लेना चाहिये कि गिरनेके लक्षण होने लगे हैं।

४१—दुःखपरिणामी भोगोंसे यदि हम अपने दुःख मिटाना चाहेंगे तो जैसे-जैसे नये भोग आयेंगे, वैसे-ही-वैसे नये-नये दुःख भी आते रहेंगे।

४२—भगवान्‌में न लगकर जगत्‌के अच्छे-से-अच्छे काममें लगना भी व्यर्थ है तथा भोगोंमें लगना तो अनर्थ है। मानव-जीवन यदि भगवान्‌की प्राप्तिके विना चला गया तो यह बहुत बड़ी हानि है। यह महत् छिद्र है। अन्य सब छिद्रोंकी पूर्ति हो सकती है, पर इस छिद्रकी पूर्ति कभी सम्भव नहीं।

४३—मनुष्यको कालकी प्रतीक्षा न करके अपने दोषोंको छोड़कर भगवान्‌में लग जाना चाहिये। भगवान्‌के शरणापन्न होनेपर भगवान् उसे शुभाशुभ फलसे मुक्त कर देते हैं अथवा ज्ञानाग्निके उदय होनेसे सम्पूर्ण संचितकर्म भस्म हो जाते हैं। अतएव जो बीत गया, उसकी चिन्ता छोड़कर वर्तमानको सँभालना चाहिये।

४४—जीवनको भोग-संकुचित बनाकर भगवान्‌की ओर लग जाना चाहिये। दिनभर सोचना चाहिये—भगवान्‌की सेवा एवं चिन्तनमें कितना समय लग रहा है तथा भोगोंमें मन कितना जाता है। अर्थात् 'हम कहाँ हैं'—साधक यह निरन्तर देखता रहे। अपना अन्तर जैसा होगा, वही हमारा स्वरूप है और जैसा हमारा स्वरूप है, वैसी ही हमारी क्रियाएँ होंगी।

कामके पत्र

(१)

सहज सफल साधन

[२००७ विक्रम संवत्‌का एक पत्र]

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपमें आस्तिकता है, भगवद्विश्वास है, संयम एवं साधनकी रुचि है, यह बहुत ही शुभ लक्षण है। अनेक जन्मोंके पुण्य प्रारब्ध होनेपर ही मनुष्यकी रुचि साधनकी ओर होती है।

'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।'

जीव बन्धनमें क्यों आया? इसके उत्तरमें तो शास्त्र कहते हैं कि बन्धन अनादि, पर सान्त है। लेकिन यह स्पष्ट है कि बाँधनेवाले हैं—भोग-कामना, कर्मासक्ति और विभिन्न संस्कार। आसक्तिके कारण ही हम संस्कारोंका संग्रह करते हैं और ये संस्कार ही जन्म-मृत्युके कारण होते हैं। जबतक जीवमें कामना है, आसक्ति है, तबतक यह आवागमन रहेगा।

जीव इस बन्धनसे छूटनेमें स्वतन्त्र है। सभी शास्त्रोंने मनुष्यको स्वतन्त्र माना है। लेकिन इस स्वतन्त्रताका भी अर्थ है। अनेक बार हम जो चाहते हैं वह कर नहीं पाते। जिसे न करनेका बराबर विचार करते हैं, वही हो जाता है। गीताका यही 'बलादिव नियोजितः' है, लेकिन भगवान्‌ने इसका कारण बताया है—'काम एष क्रोध एष।'

जैसे एक अफीमची या शराबी दीर्घकालीन अभ्यासके पश्चात् अपनेको लगभग विवश पाता है। वह निश्चय करके भी अपनेको नशेसे बचा नहीं पाता। लेकिन इसीसे उसे परतन्त्र नहीं कहा जा सकता। वह अपने ही अभ्यासके परतन्त्र है और दृढ़ निश्चयसे इस परतन्त्रतासे त्राण पानेमें वह समर्थ है—यही उसकी स्वतन्त्रता है। ऐसे ही हम जन्म-जन्मके अपने संस्कारोंसे विवश होते हैं, पर दृढ़ निश्चय और निरन्तर प्रयत्न हमें इस स्थितिसे परित्राण दे सकता है।

भगवान् दया करते हैं। वे दयामय हैं, सबपर दया करते हैं। हम, आप या कोई मनुष्य ऐसा मिल नहीं सकता, जिसने कभी भगवान्‌की दयाका साक्षात्कार न किया हो। हम पीछे उसे भूल जायँ, उसे संयोग कह दें यह दूसरी बात। आप अपने जीवनके संकट-क्षणोंको सोचें और देखें कि भगवान् दयामय हैं या नहीं—'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।'

(गीता ६। ४५)

हमारे लिये यह जीवन बहुत बड़ा है, पर पृथ्वीकी आयुमें एक मनुष्यका जीवन कितना और ब्रह्माण्डोंमें पृथ्वीकी आयु ही कितनी? जहाँ अनन्त-अनन्त ब्रह्माण्डोंकी आयु पल-

जैसी है, वहाँ हमारे जीवनका क्या अर्थ होता है ? जीवका जीवन अनन्त है और उस अनन्त जीवनमें उसे सबल समर्थ होकर अपने दयामय प्रभुसे सांनिध्य प्राप्त करना है। वह माता दयामयी नहीं होगी, जो पुत्रको गोदसे उतारे ही नहीं; बालक तो गिरेगा, उठेगा और इसीसे चलनेकी शक्ति पायेगा। माताका काम उसे देखना, उसका संरक्षण करना मात्र है। दयामय प्रभु यदि जीवको कर्म-स्वातन्त्र्य न दें, तो यह क्या दयालुता होगी ? तोता पिंजड़ेमें सुरक्षित रहता है, वनमें बाजका भय भी हो सकता है, पर उसे पराधीन कर देना तो दया नहीं है। जैसे बच्चेको माताकी दया, माताकी सहायता सदा उपलब्ध है, पर बच्चेकी दृष्टिमें वह तभी आती है, जब वह पूर्णतः अपनेको असहाय असमर्थ समझकर क्रन्दन कर उठता है, माताको जब वह सचमुच आर्त होकर पुकारता है। बीचमें उसका यों ही रोना माता नहीं भी सुनती है; क्योंकि बच्चेमें अभी शक्ति है और उसे चलना चाहिये। उसकी कायरता माताको इष्ट नहीं हो सकती। यही अवस्था हमारी है। हममें जबतक सामर्थ्य है, पूरे यत्नसे पूरे निश्चयसे हमें उद्योग करना है। उद्योग न करके दूसरे बहाने करना तो प्रमाद है, जब सचमुच हमारी शक्ति सर्वथा असमर्थ हो जाती है, हम निरवलम्ब होते हैं, तभी सच्ची प्रार्थना होती है। तभी हृदय आर्त पुकार करता है और विश्वके समस्त महापुरुषोंने कहा है कि 'ऐसी प्रार्थना न सुनी जाय, यह हो ही नहीं सकता।'

हम अपने साधनोंमें सफल नहीं होते, इसमें कोई-न-कोई त्रुटि होनी चाहिये। हमें सावधानीसे उस त्रुटिको ढूँढ़ना चाहिये। विकारोंको तनिक भी अवकाश मिलनेपर वे प्रबल हो जाते हैं, यह तो ठीक ही है। लेकिन उनके प्रबल होनेके और भी कारण होते हैं आहार, अध्ययन, संग—इनकी पवित्रता और इसके साथ चित्तके लिये कोई सुदृढ़ आधार। मन कहीं तो लगेगा ही। आप उसे किसी दिव्य आधारमें न लगाये रहेंगे तो वह बार-बार विकारोंकी ओर जायगा। इसीलिये आस्तिकताहीन संयम और सदाचार कब नष्ट हो जायगा, यह कहा नहीं जा सकता। आवश्यक यह है कि मनको कोई दृढ़ आधार दिया जाय।

आजके युगमें भगवन्नामका जप और भगवान्‌के रूप, गुण, लीला, अवतार-चरितका पाठ-चिन्तन सबसे सुलभ एवं उत्तम आधार है। नामकी शक्ति अपार है। सभी संत नाम-जपकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। मनको बार-बार भगवान्‌के रूप-लीलामें लगाना तथा अधिक-से-अधिक नाम-जप करना—ये उत्तम साधन हैं। नाम-जपसे शक्ति मिलेगी और चित्त शुद्ध होगा।

भगवान् दयामय हैं, वे सबके सुहृद् हैं, अतः हमारे उद्धारमें तो संदेहको स्थान ही नहीं। उन्होंने स्वयं अपनेको 'सुहृदं सर्वभूतानाम्' कहा है और हम एक प्राणी तो हैं ही। लेकिन हममें अशान्ति इसीलिये है कि हमें विश्वास नहीं होता कि वे सर्वदा हमारे सुहृद् हैं।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

आप उनमें पूरा विश्वास करें। प्रभुमें, उनकी दयामें, उनके मङ्गलविधानमें पूरी आस्था करके दृढ़ निश्चय एवं सावधानीसे हमें अपनेको साधनमें लगाना है। भगवान्‌के नामका जप इस युगका सर्वोत्तम आधार है और उसका आश्रय हमें शक्ति देगा।

(२)

सच्ची भक्तिके लक्षण

सम्मान्य महोदय ! सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। भक्ति सुलभ है। भगवान्‌का अनन्य आश्रय लेनेपर या उनके अनन्य शरणागत होनेपर वे सब पापोंका नाश करके अपना प्रेम दे देते हैं, यह सत्य है। पर ऐसा होनेके लिये अनन्य निष्ठा तथा कभी न हटनेवाला नित्य अखण्ड अटल विश्वास होना चाहिये। भक्तका बाना (माला, कंठी, चन्दन, साधुवेष) धारण करना अच्छा है। बाहरी वैष्णवता भी लाभकारी होती है, यदि दम्भ न हो तो। पर जीवनमें भक्तिका प्राकट्य होनेपर तो भक्तका स्वरूप ही दूसरा हो जाता है। सारे सद्गुण उसमें आप ही आ जाते हैं और उन सद्गुणोंके आधारपर ही यह जाना जा सकता है कि यथार्थमें भक्तिकी प्राप्ति हुई या नहीं। गीताके १२वें अध्यायके १३वें श्लोकसे २०वें श्लोकतक भगवान्‌ने अपने प्रिय भक्तोंके भाव, विचार, आचरण और लक्षणोंका बड़ा ही सुन्दर तथा विशद वर्णन किया है। भक्तिकी प्राप्ति चाहनेवालोंको बहुत ध्यानसे इस प्रसङ्गका अध्ययन करना तथा इसमें बताये हुए लक्षणोंको अपनेमें लानेका प्रयत्न करना चाहिये। श्रीरामचरितमानसमें भगवान्

श्रीराम बड़ी नम्रताके साथ समस्त प्रजाजनको अपना अनुशासन सुनाते हुए कहते हैं—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥
जौं परलोक इहाँ सुख चहहू। सुनि मम बचन हृदयँ दृढ़ गहहू॥
सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥
कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई॥
मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा॥
बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा॥
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा॥

मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह।
ता कर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह॥

आगे चलकर श्रीकाकभुशुण्डिजीने गरुड़जीसे भक्तिकी महिमा बतलाते हुए भक्तिके बड़े सुन्दर लक्षण बतलाये हैं। उक्त प्रसङ्गको भी ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये और भक्तिके बाहरी बानेके साथ ही सच्चे मनसे उपर्युक्त लक्षणोंको आदर्श मानकर जीवनमें उतारते हुए भक्ति-साधनमें अग्रसर होना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

(३)

सात्त्विक उपासना करे, भूत-प्रेतोंकी नहीं

प्रिय श्री······सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। उत्तरमें निवेदन है कि मनुष्यको सदा ही सात्त्विक भावापन्न रहकर सात्त्विक आचार-विचारका सेवन तथा सात्त्विक कर्म ही करना चाहिये, जिससे वह उत्तरोत्तर ऊँचा उठता रहे, उच्च स्तरपर पहुँचे। सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष ही ऊर्ध्व—ऊँची गतिको प्राप्त होते हैं—'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः।' प्रवृत्तिमय रजोगुण भी सत्त्वप्रेरित और सत्त्वमुखी होना चाहिये। तमोगुणमें स्थित रहकर तमोगुणी आचार-विचार तथा कर्मका सेवन करनेपर मनुष्य नीची गतिको ही प्राप्त होता है, उसकी उत्तरोत्तर अधोगति होती है—'अधो गच्छन्ति तामसाः।' अतएव यथासाध्य सात्त्विक विचार, सात्त्विक कर्म तथा सात्त्विक उपासना ही करनी चाहिये। इसीमें बुद्धिमानी है और इसीमें यथार्थ लाभ है। उपासना तो सात्त्विक होनी ही चाहिये। सात्त्विक उपासना भगवान्‌की अथवा देवताओंकी होती है और होती है विशुद्ध दैवीसम्पदायुक्त पद्धतिसे। भूत-प्रेतोंकी उपासना सर्वथा तामसिक है और वह होती भी है अधिकतर तामसिक साधनों तथा उपकरणोंसे। अतएव उसका फल भी अधःपतन ही होता है। वरं भगवान्‌की तथा देवताओंकी उपासना भी सकामभावकी प्रेरणासे राजसिक हो जाती है और कभी-कभी तो सकाम भावकी प्रबलतासे उसमें तामसिकता आ जाती है। अतएव भूत-प्रेतोंकी पूजा कभी नहीं करनी चाहिये। प्रेतावेशसे किसीको मुक्त करनेके शुभ उद्देश्यसे या किसी प्रेतकी मुक्ति अथवा शुभगतिके लिये भजन-साधन या अनुष्ठान करनेमें आपत्ति नहीं है, वरं आवश्यक होनेपर करना भी चाहिये। परंतु उग्र तामस देवताओं तथा भूत-प्रेत-पिशाचोंकी पूजा-उपासना कभी नहीं करनी चाहिये। न ऐसी उपासनाके मन्त्र-तन्त्र-यन्त्रका ही कभी प्रयोग करना चाहिये।

प्लेंचेट आदिपर परलोकगत आत्माको बुलाकर बात करनेका प्रयास भी कर्तव्य नहीं है, उसमें हानिकी ही सम्भावना अधिक है। बारंबार भूत-प्रेतोंका स्मरण होता है, यदि वे आते हैं तो उनका हानिकारक सङ्ग होता है। कभी-कभी नीच गतिका आत्मा आ जाता है तो वह बहुत नुकसान पहुँचाना चाहता है। इस क्षेत्रमें जाल, बेईमानी, ढोंग तथा दम्भ भी बहुत चलते हैं। अधिकांश ऐसी ही प्रवृत्तिके लोग आजकल हैं। इसलिये आत्माको बुलाने आदिका प्रयास भी नहीं करना चाहिये।

निरन्तर स्मरण करना चाहिये—भगवान्‌का, भगवान्‌के स्वरूपका एवं भगवान्‌के स्वरूप-गुण-नाम आदिका और निरन्तर खोज और पूजा भी करनी चाहिये भगवान्‌की ही। भूत-प्रेतोंकी स्मृति, खोज तथा पूजामें तो हानि-ही-हानि है। अतएव मेरी स्पष्ट सम्मति यही है कि आप ऐसे कार्योंमें न मन लगाइये, न सोचिये-विचारिये और ऐसे कार्यको कभी करनेका विचार भी मत कीजिये। शेष भगवत्कृपा।

(४)

भगवान्‌की कृपाका चमत्कार

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। घटनाका सारा विवरण मैंने पढ़ा। सचमुच बड़ी भयानक स्थितिमें बड़े आश्चर्यजनक चमत्कारपूर्ण रूपमें आपकी रक्षा हुई। भगवान्‌की कृपासे ही यह सब हुआ। आपने

जो कुछ लिखा सो आपकी श्रद्धा और भावनाका परिचायक है। वास्तवमें मैं न तो अन्तर्यामी हूँ—किसीके मनकी कुछ भी जान सकता हूँ, न सर्वज्ञ ही हूँ, न मुझमें ऐसी कोई भी अलौकिक शक्ति है, जिसके द्वारा मैं इतनी दूरकी और इस भयानक स्थितिकी बात तो अलग रही, अत्यन्त समीप होनेपर भी तथा साधारण स्थितिमें भी किसीकी रक्षा कर सकूँ। मुझे आपका पत्र आनेसे पूर्व जरा भी पता नहीं था कि आपके साथ ऐसी कोई घटना हुई है, फिर रक्षा करनेकी बात तो मेरे लिये कल्पनासे परे है। हाँ, भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वज्ञ हैं और सबके अहैतुक सहज सुहृद् हैं। उनके मङ्गलविधानसे ही आपकी रक्षा हुई है। आप उन्हींके कृतज्ञ बनिये और अपने-आपको उनके चरणोंमें समर्पण करके दिन-रात उनका भजन करते रहिये।

आपने अपने·····के सम्बन्धमें लिखा सो यह आपका सद्भाव है जो आप उनको दोषमुक्त देखना चाहते हैं। पर आपने मेरे संकल्पसे, आशीर्वादसे या मेरे किसी चमत्कारपूर्ण साधनसे ऐसा होनेकी बात लिखी सो यह वास्तवमें आपकी भ्रम धारणा है। अवश्य ही मैं हृदयसे चाहता हूँ कि सभी लोग दोषोंसे मुक्त होकर सद्गुणोंसे सम्पन्न हों एवं भगवत्प्राप्तिके साधनमें लग जायँ। आपके इन सम्बन्धीके बारेमें भी यही चाहता हूँ। पर मेरे चाहने-करनेसे कुछ हो जायगा, ऐसा मानना भ्रममात्र है और यदि मैं यह दावा करूँ तो मैं स्वयं अपनेको तथा आपको धोखा दूँगा। मेरी तो परिस्थिति यह है कि मैं अपने दोषोंको भी पूर्णरूपसे मिटा नहीं सका। न मेरे पास रहनेवाले और मेरे घर-परिवारके लोग ही दोष-मुक्त हो सके। मुझमें कहीं कुछ विशेषता होती तो मैं स्वयं तथा मेरे समीपस्थ एवं घरके लोग न्यूनाधिक दोषोंसे क्यों घिरे रहते,? क्यों हमलोगोंमें सात्त्विक गुणोंका पूर्ण प्रादुर्भाव न होता तथा क्यों नये-नये दोष पैदा होते? मुझे तो वरं दूसरोंको दोषमुक्त होनेकी बात कहते भी अब संकोच होने लगा है, जब कि मैं अपने तथा अपने घर-परिवारके लोगोंके दोषोंको ही नहीं दूर कर पाया। मेरा उपदेश तो ऐसा ही है, जैसे दण्डका भागी चोर किसीसे कहे कि चोरी मत किया करो। उसका यह कहना उपहासास्पद होनेपर भी इतने अंशमें ठीक है कि 'वह खुद चोरी नहीं छोड़ पाया, इससे दण्ड भोगेगा, पर वह दूसरोंसे यह कहता है—'चोरी करोगे तो मेरी ही भाँति दण्डके भागी बनोगे—अतएव चोरी न किया करो।' बस, इसीसे मेरी स्थितिका आप अनुमान लगा सकते हैं। अतएव आपको या किसीको भी मुझसे कोई ऐसी आशा नहीं करनी चाहिये। यह मैं स्पष्ट कहता हूँ।

अवश्य ही यह परम सत्य है कि मुझपर भगवान्‌की अनन्त कृपा है पर वह तो वस्तुतः सभीपर है; क्योंकि वे प्राणीमात्रके सुहृद् हैं—'सुहृदं सर्वभूतानाम्' उनकी इस कृपापर विश्वास होते ही इसे जानते-मानते ही शान्ति मिल जाती है—'ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।' भगवान्‌की कृपासे मुझे इसपर यत्किञ्चित् विश्वास है, इसीसे मुझे अनवरत बरसती हुई उस कृपासुधाधाराके दर्शन होते हैं। यह विशेषता अवश्य है और इसके सभी अधिकारी हैं। आप अपने उक्त सम्बन्धीके लिये या अन्य किसी भी कार्यके लिये भगवान्‌की इस सहज कृपापर विश्वास करके उनसे प्रार्थना कीजिये। सच्ची प्रार्थना अमोघ होती है। शेष भगवत्कृपा।

(५)

सकाम देवाराधन अनुष्ठान भ्रम नहीं है

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला था। आपने लिखा कि 'विष्णु-शंकरकी पूजा-आराधना, देवताओंके अनुष्ठान, स्तोत्रोंके पाठ, मन्त्र-जप-प्रार्थना आदिसे जो लाभ होनेकी बात कही जाती है, वह ठीक नहीं मालूम होती। कहीं कोई लाभ होता है तो वह इन अनुष्ठानोंसे ही होता है, ऐसा क्यों माना जाय? इनसे तो उल्टा भ्रम फैलता है। लोग सफल तो होते नहीं, व्यर्थ झंझटमें पड़ते हैं।' आपका यह विचार मेरी समझसे ठीक नहीं है। यह सत्य है कि प्रारब्ध बदलता नहीं, प्रारब्धका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है, पर यह शास्त्रका नियम है कि देवाराधन आदि कर्म सुसम्पन्न होनेपर ऐसे नवीन प्रारब्धका निर्माण होता है जो फलदानोन्मुख प्रारब्धके बीचमें अपना फल उत्पन्न करता है, यद्यपि ऐसा बहुत ही कम होता है, पर हो सकता है। अतएव इन दैवी साधनोंका प्रयोग सकामभावसे करना न तो भ्रम है, न इनके प्रचारसे भ्रम फैलता है और न यह व्यर्थ ही होते हैं। ये सत्कर्म तो हैं ही। प्रारब्ध नया न बने, तब भी इनका परिणाम शुभ ही होता है। अवश्य ही यह सत्य है कि सकाम भावसे आराधना करना परमार्थ-साधकके लिये कर्तव्य नहीं है। जिसको जगत्से छूटना है वह सकाम साधना क्यों करे? क्योंकि यह भी है जगत्-प्रपञ्चकी ही चीज। पर जो लोग सकाम भौतिक कर्म करते हैं, वे उन भौतिक कर्मोंसे कहीं ऊँचे आराधनादि आध्यात्मिक

कर्म करें तो ऐसा करना श्रेष्ठ ही है। सब जगह फल उत्पन्न न हों, इसमें श्रद्धाकी कमी, विधिकी हीनता, बहुत प्रबल प्रतिबन्धक आदि—कई कारण होते हैं। यह सर्वथा सत्य है कि सब क्षेत्रोंमें लाभ न होनेपर भी बहुतोंको इनसे लाभ होता है। अतएव सकाम कर्म करनेवालोंके लिये यथारुचि यथाधिकार इन सब अनुष्ठानोंका करना-कराना कर्तव्य है और इनसे लाभ ही होता है। आपकी श्रद्धा न हो तो आप न करें। यह दूसरी बात है। शेष भगवत्कृपा।

श्रीबगलामुखी देवीकी उपासना

(लेखक—ब्रह्मचारी श्रीपागलानन्दजी उपनाम पं० श्रीयज्ञदत्तजी शर्मा, 'वानप्रस्थी' वैद्य)

[गताङ्क पृष्ठ ८१३ से आगे]

वटुकबलि

ईशानकोणमें त्रिकोण, गोलाकार तथा चौकोर रेखासे युक्त मण्डल बनाकर 'ॐ ऐं ह्रीं व्यापकमण्डलाय नमः' इस मन्त्रसे उसका पूजन करके बलिसामग्रीसे परिपूर्ण आधारसहित पात्र उस मण्डलमें रक्खे। फिर 'ॐ बलिद्रव्याय नमः' इस मन्त्रसे उसका प्रोक्षण करे। तदनन्तर—

ॐ एह्येहि देवीपुत्र वटुकनाथ कपिलजटाभार भासुर त्रिनेत्र ज्वालामुख सर्वविघ्नान्नाशय नाशय सर्वोपचारसहितं बलिं गृह्ण गृह्ण स्वाहा।

—यों कहकर अर्घ्योदक-दानपूर्वक बलि समर्पित करके हाथमें पुष्पाञ्जलि लेकर इस प्रकार कहे—

बलिदानेन संतुष्टो वटुकः सर्वसिद्धिदः।
शान्तिं करोतु मे नित्यं भूतवेतालसेवितः॥

'सम्पूर्ण सिद्धियोंके दाता तथा भूतों और वेतालोंसे सेवित भगवान् वटुकभैरव इस बलिदानसे संतुष्ट हो मुझे सदा शान्ति प्रदान करें।' यों कहकर पुष्पाञ्जलि दे और योनिमुद्रा दिखाकर प्रणाम करे।

योगिनी-बलि

अग्निकोणमें पूर्ववत् मण्डल बनाकर 'यां योगिनीभ्यो नमः' इस मन्त्रसे उस मण्डलकी पूजा करके वहाँ आधारसहित बलिपूर्ण पात्र रक्खे। तदनन्तर निम्नाङ्कित श्लोक पढ़े—

ॐ ऊर्ध्वं ब्रह्माण्डतो वा दिवि गगनतले भूतले निष्कले वा
पाताले वा तले वा पवनसलिलयोः यत्र कुत्र स्थिता वा।
क्षेत्रे पीठोपपीठादिषु च कृतपदा धूपदीपादिकेन
प्रीता देव्यः सदा नः शुभबलिविधिना पान्तु वीरेन्द्रवन्द्याः॥

'ब्रह्माण्डसे भी ऊपर अथवा स्वर्ग, आकाश, भूतलमें या निष्कलपदमें, पाताल या अतलमें, वायु और जलमें, या जहाँ कहीं भी निवास करनेवाली जो वीरेन्द्रवन्दनीया देवियाँ हैं तथा जो विभिन्न क्षेत्रोंमें एवं पीठों और उपपीठ आदिमें पदार्पण किये हुए हैं, वे सब हमारे दिये हुए धूप, दीप आदिसे तथा शुभबलि-विधानसे प्रसन्न होकर सदा हम सबकी रक्षा करें।'

'ॐ यां योगिनीभ्यः सर्ववर्णयोगिनीभ्यो हुं फट् स्वाहा' इस मन्त्रसे जलदानपूर्वक बलि अर्पित करके—

ॐ या काचिद् योगिनी रौद्रा सौम्या घोरतरा परा।
खेचरी भूचरी व्योमचरी प्रीतास्तु सर्वदा॥

'जो कोई भी रौद्ररूपवाली, सौम्यरूपवाली, अत्यन्त घोररूपवाली अथवा अन्य कोई खेचरी, भूचरी अथवा व्योमचरी योगिनी है, वह सदा हमपर प्रसन्न रहे।' इस मन्त्रसे पुष्पाञ्जलि देकर योनिमुद्रा-प्रदर्शनपूर्वक प्रणाम करे।

क्षेत्रपालबलि

नैर्ऋत्यकोणमें पूर्ववत् मण्डल बनाकर 'ॐ क्षां क्षेत्रपालाय नमः' इस मन्त्रसे मण्डलका पूजन करके पहलेकी ही भाँति वहाँ साधार बलिपात्र रक्खे। फिर 'ॐ क्षेत्रपालबलिद्रव्याय नमः' इस प्रकार कहकर उस बलिपात्रका पूजन करे। तत्पश्चात्—

'ॐ क्षां क्षीं क्षूं क्षैं क्षौं क्षः स्थानक्षेत्रपाल धूपदीपादिसहितं बलिं गृह्ण गृह्ण स्वाहा।' यों कहकर बायें हाथके अँगूठे और तर्जनीसे अर्घ्योदकधारा देते हुए बलि अर्पित करे। तदनन्तर—

ॐ अस्मिन् क्षेत्रे निवासी च क्षेत्रपालः सकिंकरः ।
प्रीतोऽयं बलिदानेन सर्वरक्षां करोतु मे ॥

'इस क्षेत्रमें निवास करनेवाले ये सेवकोंसहित क्षेत्रपाल बलिदानसे प्रसन्न होकर मेरी सब प्रकारसे रक्षा करें ।'

—इस मन्त्रसे पुष्पाञ्जलि दे योनिमुद्राप्रदर्शनपूर्वक प्रणाम करे ।

गणपतिबलि

वायव्यकोणमें पूर्ववत् मण्डल बनाकर 'ॐ गं गणपतये नमः' इस मन्त्रसे उस मण्डलका पूजन करे । फिर वहाँ पहलेकी ही भाँति बलिपात्र रखकर 'ॐ गं गणपतिबलिद्रव्याय नमः' इस मन्त्रसे उस बलिपात्रका पूजन करके—

'ॐ गां गीं गूं गैं गौं गः गणपतये वरवरद सर्वजनं मे वशमानय आनय बलिं गृह्ण गृह्ण स्वाहा'—यों कहकर बायें हाथकी मध्यमा और अङ्गुष्ठसे अर्घ्योदकदानपूर्वक बलि अर्पित करे । तदनन्तर—

सर्वदा सर्वकार्याणि निर्विघ्नं साधयेन्मम ।
शान्तिं करोतु सततं विघ्नराजः सशक्तिकः ॥

'शक्तिसहित विघ्नराज गणेश सदा मेरे सब कार्योंका निर्विघ्न साधन करें तथा सदा मुझे शान्ति प्रदान करें ।' इस मन्त्रसे पुष्पाञ्जलि देकर योनिमुद्रा-प्रदर्शनपूर्वक प्रणाम करे ।

सर्वभूतबलि

उत्तर दिशामें पूर्ववत् मण्डल बनाकर 'सर्वभूतेभ्यो नमः' इस मन्त्रसे उसका पूजन करे । फिर पहलेकी ही भाँति बलिपात्र रखकर 'ॐ सर्वभूतबलिद्रव्याय नमः' इस मन्त्रसे पूजन करे । तदनन्तर—

ॐ ह्रीं सर्वभूतविघ्नकृद्भ्यः सर्वभूतेभ्यो हुं स्वाहा सर्वभूतेभ्य एष बलिर्नमः ।

—यों कहकर बायें हाथकी समस्त अंगुलियोंसे अर्घ्योदक देते हुए बलि अर्पित करे । इसके बाद—

ये भूता विविधाकारा दिव्यभूम्यन्तरिक्षगाः ।
पातालतलसंस्थाश्च शिवयोगेन भाविताः ॥
क्रूराद्याः शतसंख्याकाः पाखण्डाद्या व्यवस्थिताः ।
ध्रुवाद्याः सप्तसंख्याश्च क्वापीन्द्राद्या व्यवस्थिताः ॥
तृप्यन्तु प्रीतमनसो भूता गृह्णन्त्विमं बलिम् ।

'जो नाना प्रकारके आकार धारण करनेवाले, स्वर्ग, भूतल और अन्तरिक्षमें विचरनेवाले, पातालतलमें निवास करनेवाले शिवयोगसे भावित भूत हैं तथा जो सैकड़ोंकी संख्यामें क्रूर आदि और पाखण्ड आदिके रूपमें व्यवस्थित हैं, जो कहीं ध्रुव आदिके रूपमें सात संख्याओंमें विराजते हैं और कहीं इन्द्र आदिके रूपमें स्थित होते हैं, वे सभी भूत प्रसन्नचित्त हो मेरी दी हुई इस बलिको ग्रहण करें और तृप्त हो जायँ ।'

—इस मन्त्रसे पुष्पाञ्जलि देकर योनिमुद्राप्रदर्शनपूर्वक प्रणाम करे ।

चण्डभैरव-बलि

तदनन्तर देवीके सम्मुख पूर्ववत् मण्डल बनाकर 'ॐ मं मण्डलाय नमः' इस मन्त्रसे उसका पूजन करे । फिर पहलेकी ही भाँति बलिपात्र रखकर 'ॐ लकुटखर्परधराय चण्डभैरवाय नमः' इस मन्त्रसे बलिपात्रका पूजन करके निम्नाङ्कित मन्त्र पढ़कर बलि अर्पित करे—

ॐ चण्डभैरव क्षेत्रपाल एहि एहि मम विघ्नान् भञ्जय भञ्जय अमुकदुष्टं भञ्जय भञ्जय खादय खादय ह्रीं अमुकस्य मुखं स्तम्भय स्तम्भय ममेप्सितं कुरु कुरु इमं बलिं गृह्ण गृह्ण स्वाहा ।

बगलामुखी-बलि

देवीके दक्षिण भागमें पूर्ववत् मण्डल बनाकर 'ॐ मं मण्डलाय नमः' इस मन्त्रसे उसका पूजन करे । फिर वहाँ बलिपात्र रखकर 'श्रीबगलामुखीबलिद्रव्याय नमः ।' इस मन्त्रसे उसका पूजन करके—

'ॐ ह्लीं बगलामुखि एह्येहि मम विघ्नान् विनाशय विनाशय इमं बलिं गृह्ण गृह्ण स्वाहा' इस मन्त्रसे तत्त्वमुद्राद्वारा सामान्यार्घ्यका जल देते हुए बलि समर्पित करे । बलि समर्पित करनेके अनन्तर योनिमुद्रा-प्रदर्शनपूर्वक प्रणाम करे ।

इस प्रकार बलिदान-कर्म पूर्ण हुआ ।

नित्य होम

इसके लिये लौकिक अग्निको ले आकर मूल मन्त्रसे उसपर दृष्टिपात करे और कवच-मन्त्रसे अभ्युक्षण करके देवीके मूल-मन्त्रसे उसको अभिमन्त्रित करे। फिर उसमें देवीके स्वरूपका ध्यान करके उस अग्निको वेदीपर स्थापित करे। तत्पश्चात् अग्नि और इष्ट देवतामें एकताकी भावना करके मूलमन्त्रके उच्चारणपूर्वक **'श्रीबगलामुखीरूपाग्नये नमः।'** इस मन्त्रसे अग्निका पूजन करके हवनीय द्रव्यका धेनुमुद्राद्वारा अमृतीकरण करे। तदनन्तर मूल-मन्त्रसे तीन बार अभिमन्त्रित करके स्वाहान्त मूल-मन्त्रसे सोलह आहुतियाँ दे। फिर ब्रह्मार्पण-मन्त्रसे घीकी आहुति देकर होम-कर्म समाप्त करे और संहार-मुद्राद्वारा देवीके स्वरूपमें अग्नि देवताका विसर्जन करे।

प्रसन्नापूजा

इसमें मूल-मन्त्रद्वारा स्वर्णपात्रमें स्थित जलका धेनुमुद्राद्वारा अमृतीकरण और अभिमन्त्रण करके मूल-मन्त्र पढ़कर—

सलिलं पावनं देवि शीतलं सुमनोहरम्।
मया निवेदितं भक्त्या गृहाण परमेश्वरि॥

'हे देवि! यह अत्यन्त मनोहर, शीतल और पावन जल मैंने भक्तिभावसे आपकी सेवामें निवेदित किया है। परमेश्वरि! आप इसे अङ्गीकार करें।'

—यों कहकर वह जल देवीको निवेदित करके यह भावना करे कि देवीने इसे पी लिया। तत्पश्चात् कर्पूर आदिसे युक्त ताम्बूल अर्पित करके छत्र, चामर आदि निवेदित करे। इसके बाद मूल-मन्त्र पढ़कर **'सुप्रसन्नां श्रीबगलामुखीं पूजयामि'** यों बोलकर तीन बार पुष्पाञ्जलिसे पूजन करे। फिर मूल-मन्त्रके अन्तमें **'सुप्रसन्नायै श्रीबगलामुख्यै अर्घ्यं समर्पयामि स्वाहा'** यों कहकर अर्घ्य-समर्पणके पश्चात् पुनः गन्ध-पुष्पादि निवेदित करे।

आरार्तिक

सोने आदिके पात्रमें सिन्दूर आदिसे अष्टदल कमल बनाकर उसमें गेहूँके आटेके बने हुए डमरूके आकारके नूतन दीप रक्खे। उन दीपोंको गायके घीसे भर दे। फिर उनमें कर्पूरादि-गर्भित बत्तियाँ रक्खे। इसके बाद 'ह्रौं' का उच्चारण करके उन बत्तियोंको जला दे। तदनन्तर—

'ॐ श्रीं ह्रीं ग्लूं श्लूं म्लूं प्लूंह् लूं ह्रीं श्रीं।' इस रत्नेश्वरी-विद्याद्वारा तीन बार उन दीपोंको अभिमन्त्रित करके चक्र-मुद्रा दिखाकर पुष्प चढ़ाये और मूल-मन्त्रके अन्तमें घण्टा बजाते हुए उस दीपपात्रको देवीके मस्तकपर्यन्त ऊपर उठाये, फिर मस्तकसे चरणपर्यन्त और चरणसे मस्तक-पर्यन्त दक्षिणावर्तक क्रमसे नौ बार नीराजन करे। इसके बाद—

समस्तचक्रचक्रेशि नुते देवैर्नवात्मिके।
आरार्तिकमिदं देवि गृहाण मम सिद्धये॥

—इस श्लोकका पाठ करते हुए देवीके मस्तकसे ऊपर तीन बार आरती घुमाकर प्रणाम करे।

कुमारी-पूजा

सम्पूर्ण शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न कुमारी कन्याका बालाविद्या-द्वारा षोडशोपचारोंसे पूजन करके—

'ॐ ऐं क्लीं सौः कुमारी श्रीपादुकां पूजयामि नमः' यों कहकर तीन बार पुष्पाञ्जलिसे पूजन करे। तत्पश्चात् **'मातः क्षमस्व'** यों कहकर विसर्जन करे।

वटुक-पूजा

वटुकजी देवीके पुत्र हैं, इसी बुद्धिसे उनका आवाहन करके **'ॐ ह्रीं ऐं वटुकाय नमः'** इस मन्त्रसे विधिपूर्वक विविध उपचारोंद्वारा उनका पूजन करके **'देव क्षमस्व'** यों कहकर विसर्जन करे।

शक्तिपूजा

इसमें शास्त्रोक्त लक्षणसे सम्पन्न सुवासिनी स्त्रीको देवीके वामभागमें बिठाकर मूलमन्त्रसे यथोक्त उपचारोंद्वारा पूजन करे। फिर उसे शक्तिपात्र देकर द्रव्य, कञ्चुक, ताम्बूल, फल-फूल आदि जो कुछ भी अपनी शक्तिसे जुटाया जा सके, देकर संतुष्ट करे और निम्नाङ्कित श्लोक पढ़कर उसे शक्तिपात्र समर्पित कर दे—

शक्तिपात्रमिदं तुभ्यं दीयते द्रव्यसंयुतम्।
स्वीकृत्य सुभगे देवि जयं देहि रिपून् दह॥

—इस मन्त्रसे उस सुवासिनीको पात्र देकर साधक उससे आशीर्वाद ग्रहण करे। मानो देवी साधकसे कह रही हैं—

वत्स तुभ्यं मया दत्तं पीतशेषाकुलामृतम्।
त्वच्छत्रून्संहरिष्यामि सर्वाभीष्टं ददामि च॥

'बेटा! मैंने तुम्हें अपने पीनेसे बचा हुआ प्रसाद-स्वरूप कुलामृत प्रदान किया है। मैं तुम्हारे शत्रुओंका संहार करूँगी और तुम्हें सम्पूर्ण अभीष्ट वस्तुएँ देती रहूँगी।' यों कहकर सुवासिनी देवी साधकको अपना प्रसाद अर्पित करे। साधकको भी भक्तिभावसे प्रणाम करके वह प्रसाद ग्रहण करना चाहिये। तदनन्तर मूलमन्त्रका आठ बार जप करके आनन्दभैरव और आनन्दभैरवीका तथा गुरु-देवताका संतर्पण करके देवीका प्रसाद ग्रहणकर साधक अन्य साधकोंका पूजन करे। वीरपात्रसे तीर्थजल निकालकर एक दूसरेपर अभिषेक करके साधक एक दूसरेकी वन्दना करे। इसकी विधि इस प्रकार है—

साधकोंद्वारा परस्पर वन्दन

सभी साधक भक्तिभावसे परमामृत ग्रहण करके अपने-अपने कल्पसूत्रमें बतायी गयी विधिके अनुसार तत्त्वशुद्धिपूर्वक भैरव तथा गुरुदेवका तर्पण करके उनकी आज्ञा ले तत्त्व-श्रीकरणपूर्वक चक्रेश्वरको प्रणाम करें। चक्रेश्वर भी अपने पात्रसे परमामृत ग्रहण करके मूलमन्त्रसे उसको आठ बार अभिमन्त्रित करें और श्रीगुरुपादुका-मन्त्रसे मस्तकपर तीन बार श्रीगुरुका संतर्पण करके हृदयमें मूलमन्त्रसे तीन बार देवीका संतर्पण करनेके पश्चात् वन्दना करे।

जप

तदनन्तर महती पद्धतियोंमें बताये अनुसार पात्र-वन्दना करके जपमाला लेकर उसको किसी पात्रमें रक्खे। फिर मूलमन्त्र पढ़कर उसका अभ्युक्षण करे। तत्पश्चात्—

ॐ माले माले महामाये सर्वशक्तिस्वरूपिणि।
चतुर्वर्गस्त्वयि न्यस्तस्तस्मान्मे सिद्धिदा भव॥

'हे सर्वशक्तिस्वरूपिणि महामाये माले! धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धि तुमपर ही अवलम्बित है। इसलिये तुम मेरे लिये सिद्धिदायिनी होओ।'

'ॐ ह्रीं सिद्ध्यै नमः' इस मन्त्रसे गन्धादिद्वारा मालाका पूजन करे।

इसके बाद—

अविघ्नं कुरु माले त्वं गृह्णामि दक्षिणे करे।
जपकाले च सिद्ध्यर्थं प्रसीद मम सिद्धये॥

—यों कहकर मालाको दाहिने हाथमें लेकर गुरुमन्त्र तथा देवताके स्वरूपमें एकताकी भावना करके मूलमन्त्रद्वारा देवताको हृदय-कमलमें ले आकर मन्त्रार्थका चिन्तन करते हुए शान्तचित्त एवं मौन हो शरीरको सीधा रखते हुए दाहिने हाथकी मध्यमा अङ्गुलिके मध्यपर्वमें मालाको रखकर तर्जनीसे उसका स्पर्श न करते हुए मूलमन्त्रोच्चारण-पूर्वक अङ्गुष्ठ और मध्यमाके अग्रभागसे मालाको संचालित करे (फेरे)।

इस प्रकार एक हजार या एक सौ आठ बार जप पूर्ण करके 'ॐ' के उच्चारणपूर्वक—

त्वं माले सर्वदेवानां प्रीतिदा शुभदा मम।
शुभं कुरुष्व मे भद्रे यशो वीर्यं च सर्वदा॥

'कल्याणमयि माले! तुम सम्पूर्ण देवोंको प्रसन्नता प्रदान करनेवाली तथा मेरे लिये शुभदायिनी हो। अतः मेरे लिये सदा शुभ, यश एवं वीर्यका सम्पादन करो।' (शेष अगले अङ्कमें)।

परम शान्तिके साधन

अगर चाहते परम शान्ति तो अहंकारका कर दो त्याग।
ममता और कामना छोड़ो, तनिक न रखो भोगमें राग॥
अथवा प्रभु जो सर्वशक्तिधर, सर्वेश्वर, सर्वज्ञ सुजान।
उनकी सहज सुहृदतापर रक्खो अखण्ड विश्वास महान॥

पढ़ो, समझो और करो

(१)

न्याय

रियासत रतलामका न्यायालय। दर्शक जनसमूहसे अदालत खचाखच भरी थी। आबाल वृद्ध-नर-नारी परिणामकी घोषणा सुननेके लिये आतुर थे। अदालतमें एकदम संनाटा छाया हुआ था। न्यायाधीश महोदय गम्भीर मुद्रामें न्यायपीठिकापर बैठे थे। उनके एक ओर कठघरेमें श्रीश्रीनिवासजी अपराधीके रूपमें सिर नीचा किये खड़े थे।

बहस प्रारम्भ हुई। सरकारी पक्षके वकीलने कानूनी नजीरें देते हुए श्रीनिवासजीको अपराधी करार दे ही दिया और न्यायाधीश महोदयसे निवेदन किया कि 'कानूनकी गिरफ्तमें मुजरिम श्रीनिवासको नियमानुसार सजा दी जाय।' विद्वान् न्यायाधीश महोदयने सरकारी पक्षके वकीलके कथनको बड़े ध्यानपूर्वक सुना।

बचाव पक्षके वकीलोंने मुजरिमको निर्दोष सिद्ध करनेका भरसक प्रयत्न किया। सरकारी वकीलके तर्कका खण्डन करते हुए उन्होंने कहा—"दण्ड अपराधमें नहीं, बल्कि उसकी भावनामें होता है। माना कि ये सरकारी कार्यालयमें अधिकारी हैं और रुपयोंका गबन भी इनके कार्यालयसे स्वयं इन्हींके हस्ताक्षरद्वारा हुआ, किंतु ये हस्ताक्षर उनके अधीनस्थ किसी कर्मचारीने धोखेमें इनसे करवा लिये थे। गबन की हुई धनराशिमें इनका कोई भी हाथ नहीं है, अतः श्रीनिवासजी बिल्कुल निरपराधी हैं।'

सरकारी पक्षके वकीलने बीचमें ही दलील पेश करते हुए कहा कि 'मुजरिम श्रीनिवासजी वैधानिक कार्यवाहीमें स्पष्टरूपसे अपराधी हैं; क्योंकि एक अधिकारी बहुत बड़ा उत्तरदायित्व लेकर कार्यालयकी कुर्सीपर बैठता है। ऐसा उत्तरदायी व्यक्ति यदि आँखें बंद करके हस्ताक्षर करता है, तो यह भी उसकी कर्तव्यहीनता ही समझी जायगी, जो कि अपराध है; अतः इस रूपमें भी ये अपराधी हैं।'

बड़ी गम्भीरतापूर्वक दोनों पक्षोंकी जिरह सुननेके पश्चात् माननीय विद्वान् न्यायाधीश महोदयने अपनी ओरसे न्यायकी घोषणा की, जिसको सुनकर दर्शकगण अवाक् रह गये और न्याय-कक्षकी निस्तब्धता दर्शकोंकी कानाफूसीसे भंग हो चली। सभी निष्पक्ष न्याय और न्यायाधीश दोनोंकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा कर रहे थे। न्यायकी घोषणा थी—'राजकीय धनकी खयानत करनेके अपराधमें श्रीश्रीनिवासको ६ माहकी सजा और ५००) रुपयेका आर्थिक दण्ड दिया जाता है।' फैसला सुनानेके बाद न्यायाधीश अपने न्यायासनसे नीचे आये और उन्होंने नतमस्तक होकर मुजरिमके चरणोंमें प्रणाम किया। दोनोंकी आँखोंमें आँसू छलक रहे थे। अन्तर केवल इतना ही था कि न्यायाधीशकी आँखोंमें आँसू दुःखके थे तो, अपराधीकी आँखोंमें प्रसन्नताके। जानते हो कि यह अपराधी कौन थे? ये थे न्यायमूर्ति न्यायाधीश महोदयके पूज्य पिताजी। उन्हें गर्व था कि वे अपराधी नहीं, वरं एक न्यायी पुत्रके पिता हैं। न्यायाधीश श्रीशिवशक्तिरायने तुरंत ही उसी लेखनीसे त्याग-पत्र लिखकर महाराजके पास प्रेषित कर दिया।

न्यायप्रिय शासक सज्जनसिंहजीको उपर्युक्त प्रकरणकी वास्तविक स्थिति पूर्णरूपेण पहले ही ज्ञात हो चुकी थी, अतएव उन्होंने श्रीनिवासजीकी सजाको माफ कर दिया और कर्तव्यपरायण न्यायाधीशके निष्पक्ष न्यायसे उनका हृदय गर्वसे भर गया। उन्होंने कर्तव्यनिष्ठ न्यायाधीशकी भूरि-भूरि सराहना की। धन्य हैं वे पुरुष जो लौकिक स्वार्थोंसे कर्तव्यनिष्ठाको सर्वोपरि समझते हैं और ऐसे महापुरुषोंको जन्म देनेवाले देश भी धन्य हैं।

—मुरारीलाल द्विवेदी बी० ए०, साहित्यरत्न

(२)

आदर्श सहानुभूति और सेवा

बँगलेके पीछेके कोनेसे एक बड़ी चीख सुनकर नौकरानी दौड़ी आयी और अँधेरेमें घबराकर वह पुकारने लगी—'चोर' 'चोर' 'दौड़ो-दौड़ो'—सुनते ही आसपासके लोग दौड़े आये। भीड़ एक स्त्रीके पीछे दौड़ पड़ी।

घूमने निकले हुए अखिल और सुजाताने यह देखा। उस स्त्रीकी अस्तव्यस्त दशा उसकी पीड़ा और गरीबीको साफ बता रही थी। अखिल निर्भयतासे उसकी ओर दौड़ा और जोरसे बोला—'खबरदार, वहीं खड़ी रह, भाग

क्यों रही है ?' यों कहकर उसे अखिलने बाँहोंसे पकड़ लिया। इस बीच तो कौतूहलकी भारी भीड़ वहाँ इकट्ठी हो गयी। भैयाजी (दरवान) लाठी लिये आ पहुँचे; कहा—'साब ! यह औरत तो चोर है।' इतनेमें सुजाता गरज उठी—'खबरदार भैयाजी ! लाठी उठायी तो, इस बेचारीको मारिये नहीं। देखिये न, यह बिल्कुल गरीब सीधी स्त्री है। तलाशी लेनी हो तो ले लीजिये।' अखिलने उसके हाथसे पोटली ले ली। बत्तीके उजियालेमें खोलकर देखा तो उसमें कुछ रेजगी थी, गुदड़ीका पुराना कपड़ा था और कुछ चिथड़े थे। यह सब देखकर अखिलने लोगोंसे पूछा—'बोलो भाई ! इस बेचारीने कौन-सी चोरी की है जो आप सब लाठियाँ ले-लेकर और इसे चोर कहकर मारने निकल पड़े हो ?' अन्तमें भीड़ बिखर गयी।

इसी बीच वह स्त्री पोटली लेकर चीखती-चिल्लाती फुटपाथकी तरफ दौड़ी। पास ही एक नीमके पेड़के नीचे जोरसे चीखकर गिर पड़ी। सुजाता तो चीख सुनकर काँप गयी। अखिल आवाजकी तरफ दौड़ा। सुजाता भी हाँफती हुई उसके पीछे दौड़ी आयी। खुली जगहमें वह भिखारिन पड़ी थी, सर्वथा मूर्छित दशामें। लगभग आधी प्रसूति हो चुकी थी। उसकी यह करुण दशा देखकर दोनों उसकी सार-सँभालमें लग गये। बालकका जन्म हुआ, पर उस बहिनको पूरा होश नहीं था।

दोनों उस बहिनको बच्चेके साथ लेकर अपने बँगलेपर आ गये। एक महीने तक सुजाताने बड़े प्रेम, सद्भाव और सहृदयतासे उसकी सेवा-चाकरी की। अन्तमें शक्ति आनेपर वह जब चलने-फिरने लगी तब 'अब कहाँ जाना है—' लक्ष्मीके मनमें इस सवालने बड़ी बेचैनी पैदा कर दी।

एक दिन अपनी छोटी-सी पोटली उठाकर और बच्चेको लेकर वह बाहर जानेको तैयार हो गयी; इतनेमें दीपक और सुधा दौड़े आये और बोले—'अरे लक्ष्मी बूवा ! तू कहाँ जा रही है, हम तुझे नहीं जाने देंगे। चल माँके पास।' लक्ष्मीका हाथ पकड़कर और उसे खींचकर दोनों बच्चे सुजाताके पास ले गये। लक्ष्मीने सुजाताके चरण पकड़ लिये—बोली—'बहन ! तुमने मुझपर बड़े उपकार किये हैं, मुझ टीनके टुकड़ेको तुमने सोना बना दिया है। मैं तुम्हारे घर बहुत दिन रह गयी। अब तो मुझे जाना ही चाहिये।' सुजाताने पूछा—'पर तू कहाँ जायगी, यह तो मुझे बता ?'

लक्ष्मीने कहा—'यह धरती मेरी माँ है और भगवान मेरा बाप है। ये जहाँ ले जायँगे, वहीं जाऊँगी। इनके सिवा इस दुनियामें मेरा कोई भी नहीं रहा है।' यों कहकर वह रोने लगी। बच्चे भी बूवाको रोती देखकर सहज ही रोने लगे। रोनेकी आवाज सुनकर अखिल दौड़ आया—पूछा—'अरे ! यह सब क्या है ? किस लिये रो रहे हो ?' सुजाताने बताया, 'देखिये न, यह लक्ष्मी जानेको तैयार हो गयी है, इसीसे बच्चे रो रहे हैं !' अखिलने कहा—'देख लक्ष्मी ! तू मेरी बहन है, यह घर तेरा ही है। तुझसे बने तो काम करना, न बने तो कोई आपत्ति नहीं। तू तो हमारे कुटुम्बकी हो गयी है। तुझे जीते हुए फिर नरकमें धकेल दें, हम ऐसे पापी नहीं हैं। तू निश्चिन्त होकर जीवनभर यहीं रह। यह घर तेरा ही है, ऐसा मान ले।'

और लक्ष्मीके नन्हेसे बच्चेको अखिलने जमीनसे उठाकर छातीसे चिपका लिया। सुजाताने प्रेमसे लक्ष्मीको हृदयसे लगाकर उसमें आत्मीयता भर दी। लक्ष्मीने रोते हुए दीपक और सुधाको अपनी गोदमें ले लिया। दोनोंको चुप कराते हुए सुजाता बोली—'देखो बेटा ! अब तुम्हारी लक्ष्मी बूवा कहीं भी नहीं जायगी। यह तो सदाके लिये अपने साथ ही रहेगी।'

सूर्यके दर्शनसे जैसे फूल खिल उठते हैं, वैसे ही दोनों बच्चोंके चेहरे आनन्दसे पुलकित हो गये। 'अखण्ड आनन्द'

—श्रा० हरीश व्यास

(३)

अनुकरणीय उदारता और आदर्श सीख

बेंजमिन फ्रैंकलिन अपने आरम्भिक दिनोंमें एक अखबार छापता था और आगे चलकर उसका सम्पादन और प्रकाशन भी करने लगा। उसके पास सांसारिक वस्तुओंकी कोई अधिकता न थी। एक बार उसे रुपयेकी जरूरत पड़ी। उसने एक धनी व्यक्तिसे बीस डालर माँगे। उस अपरिचित आदमीने तुरंत बीस डालरकी सोनेकी मोहर दे दी।

थोड़े समयमें फ्रैंकलिन बीस डालर बचा सका और उसे वापस करने लगा।

जब बीस डालरका सिक्का मेजपर रक्खा तो उसके

मित्रने चकित होकर कहा कि 'उसने कभी बीस डालर उधार नहीं दिये थे।'

फ्रैंकलिनने उसे याद दिलाया कि 'अमुक अवसरपर, अमुक अवस्थामें, उसने बीस डालर दिये थे।'

'हाँ दिये तो थे।'

'इसीलिये तो मैं लौटाने आया हूँ।'

'लौटानेकी बात तो कभी नहीं हुई थी। लौटानेकी बात मैं कभी सोच ही नहीं सकता था।'

'इस सोनेके सिक्केको रक्खो।' उसने कहा—'किसी दिन कोई तुम्हारे पास आयेगा, जिसे इसकी वैसी ही आवश्यकता होगी जैसी कभी तुम्हें थी, तब उसे दे देना।

'यदि वह ईमानदार आदमी होगा तो वह कभी-न-कभी तुम्हें डालर लौटाने आयेगा। जब वह आये तो उससे तुम भी यही कहना कि वह उस मोहरको रक्खें और अपनी ही-जैसी अवस्थामें जो कोई माँगने आये, तो उसे दे दे।'

कहा जाता है—बीस डालरकी मोहर आज भी अमेरिका प्रजातन्त्रमें किसी-न-किसीकी आवश्यकता पूरी करती हुई घूम रही है।

पाठक! आप भी, जो भी कुछ आपको मिले—वह कुछ भी हो, उसे आगे बढ़ा दें, यही आदर्श सीख है।

—वल्लभदास बिन्नानी, 'व्रजेश'
साहित्यरत्न, साहित्यालंकार

(४)

पर-धनको विषके समान समझनेवाला झाँका-कुली

आजके युगमें भी ऐसी बात नहीं है कि सर्वत्र ही बेईमानी, झूठ एवं अनैतिकताका बोलबाला हो। इस संसारमें ऐसे व्यक्तियोंकी कमी नहीं है जो गरीब और तुच्छ (संसारकी दृष्टिमें) होनेपर भी ईमानदार, कर्तव्यनिष्ठ, चरित्रवान् और पराये धनको विषके समान समझनेवाले हैं।

घटना करीब तीन मास पूर्वकी है। तालचर कस्बा (कटक) के मेरे परिचित व्यवसायी श्रीसुरजमलजी सामान खरीदनेके लिये पुरी एक्सप्रेससे कलकत्ता गये थे। साथमें एक सूटकेस और बिस्तर था। दूसरे दिन प्रातःकाल उन्होंने हवड़ा स्टेशनपर अपना सामान एक झाँकेवालेको देकर सत्यनारायण पार्क तक चलनेको कहा। झाँकेवाला सामान लेकर आगे-आगे चलता रहा और सुरजमलजी पीछे-पीछे। स्ट्रान्ड रोडके पास झाँकेवाला उनकी आँखोंसे ओझल हो गया। वे इधर-उधर देखते रहे। लेकिन झाँकेवालेका पता न चला। वे बहुत चिन्तित हुए; क्योंकि सूटकेसमें कई जरूरी कागजोंके अलावा चार हजार रुपयेके नोट भी थे। आधा घंटा तक स्ट्रान्ड रोडके आस-पास बहुत खोज की, लेकिन असफलता ही हाथ लगी।

चिन्तित और उद्विग्न मनसे जब वे स्ट्रान्ड रोडसे अपने निवास-स्थलकी ओर चले तो रास्तेमें अपनी असावधानीपर पछता रहे थे और मन-ही-मन सोच रहे थे कि झाँकेवालेने अच्छी चपत लगायी। अब पुलिसमें रिपोर्ट करनेके सिवा और चारा ही क्या है ! यों सोचते-सोचते जब वे सत्यनारायण मन्दिरके पास पहुँचे तो उसी झाँकेवालेने, जो सत्यनारायण पार्कके बाहर पटरियोंपर पौन घंटे पहले आ पहुँचा था और सामानके मालिककी इन्तजारी कर रहा था, उन्हें देखकर दूरहीसे पुकारा, 'बाबूजी ! मैं यहाँ हूँ, आप किधर चले गये थे ? आपका सामान लेकर किधर चलना है ?' सुरजमलजीने झाँकेवालेकी ओर देखा, लेकिन उन्हें अपनी आँखोंपर विश्वास नहीं हो रहा था। जब उन्होंने झाँकेमें अपना सामान देखा तो बहुत ही प्रसन्नता हुई। झाँकेवालेसे कहने लगे कि 'मैंने तो सोचा कि तुम सामान लेकर चम्पत हुए।' झाँकेवाला बोला—'बाबूजी ! हम गरीब हैं तो क्या हुआ, हमारा ईमान तो हमारे पास है, हम परधनको विषके समान समझते हैं।'

निवासस्थानपर पहुँचकर सुरजमलजीने ५) रुपये झाँकेवालेके हाथमें थमा दिये। झाँकेवाला साश्चर्य पूछने लगा, 'इतना क्यों ? मेरी मजदूरी तो एक रुपया होती है।' बहुत आग्रह करनेपर उसने ५) रुपये ले लिये और नमस्कार कर चलता बना। सुरजमलजी भी पीछेसे 'पराये धनको विषके समान' समझनेवाले झाँकेवालेको मन-ही-मन नमस्कार कर रहे थे।

—पूर्णेन्दु भालचन्द्रका, कटक—३

(५)

कर्त्तव्य-पालन

चाईबासा, बड़ी बाजारके श्रीनथुनीराम गत ता० ९-१-६९को ट्रेनसे कहीं जा रहे थे। इनका हैंडबेग भूलसे

ट्रेनमें छूट गया। हैंडबेगमें १८०००) अठारह हजार नगद, चेकबुक, विदेशके टुरीस्ट-सर्टिफिकेट तथा अन्यान्य जरूरी कागजात थे। पर भगवान्‌की कृपासे ग्राम राठी (जिला दरभंगा)के निवासी श्रीविन्दु पाठकजीको वह हैंडबेग मिल गया। हैंडबेगपर पता देखकर उक्त सज्जन स्वयं कटेया आकर हैंडबेग देकर गये। आजके अर्थलोलुप जगत्‌में इनके इस आदर्श कर्त्तव्य-पालनको देखकर सभी लोग गद्‌गद हो गये। भारतवर्षमें किसी दिन यह सहज स्वभावकी चीज थी, कोई महत्त्वकी बात नहीं थी। पर आज तो बड़े महत्त्वकी बात है।

—बालेश्वरप्रसाद विश्वनाथप्रसाद कटेया, (सारन)

(६)

मानवता मर नहीं गयी है

सौराष्ट्रमें सायला (भगतके गाँव) के पासके रामपुरा ग्राममें छः महीने पहले घटी हुई घटना है। उस ग्रामके एक भाईने वहाँके एक प्रमुख व्यापारीसे २०००) (दो हजार) रुपये उधार लिये थे। रुपये लेकर वे भाई यह कहकर घर चले गये 'कि मैं लौटकर लिखावटपर सही कर दूँगा।' भगवान्‌का विधान, रुपये उधार लेकर जानेवाले सज्जनका दुपहरको ही हृदयगति रुक जानेसे देहान्त हो गया। रुपये उधार लानेकी बात उन्होंने केवल अपनी पत्नीसे कही थी।

रुपये देनेवाले महाजनको लगा कि रुपये देनेकी न कोई लिखावट है और न कोई गवाह ही है, अतः उनके कुटुम्बियोंसे कैसे कहा जाय। फिर इस प्रसंगपर बात चलाना उचित भी नहीं है। सब कुछ सलट जानेपर किस तरह बात चलायी जाय, वे यह सोचते रहे। रुपया ले जानेवाले सज्जन भी प्रतिष्ठित और सच्चे पुरुष थे। इससे उनको बहुत चिन्ता नहीं थी।

बारह दिन बीत गये। तेरहवें दिन शामको रुपये उधार लेनेवाले सज्जनकी विधवा पत्नीने रुपये देनेवाले महाजनको अपने घर बुलाया और उनसे कहा—'मुझे मेरे पतिने आपसे रुपये लानेकी बात कही थी। अतएव आप कहें तभी मेरा लड़का आपके पास जाकर लिखावटपर सही कर आयेगा।'

यह बात सुनते ही महाजन तो आश्चर्यसे विधवा बहिनकी ओर देखते ही रह गये और केवल इतना ही बोल सके—'आप रुपयोंकी चिन्ता न करें, लड़का जब सुविधा हो, जाकर सही कर आयेगा, मुझे कोई आपत्ति नहीं है।'

नीयत खराब होती तो वह बहिन रुपयोंकी बात ही नहीं चलाती और महाजन कहीं कुछ कहते तो भी 'मैं कुछ भी नहीं जानती' कहकर रुपये पचा लेती। परंतु भारतके गाँवोंमें मानवता और ईमानदारी मर नहीं गयी है, इसका उदाहरण इस एक अशिक्षित विधवा बहनने उपस्थित किया है। 'अखण्ड आनन्द।'

—चन्द्रिका शाह

(७)

प्रार्थनाका फल

अक्टोबर सन् १९६५ की बात है। मेरी लड़कीकी शादी तै हो चुकी थी, बाकी था लेन-देन। पर इतना निश्चित था कि दस-पंद्रह हजारके बीच सब खर्च होगा। मुझे अब रुपयेकी चिन्ता लगी; क्योंकि मेरा मकान 'वेदान्त आश्रम, मौला बाग, आरा' अभी बिका नहीं था। वह बिकनेवाला था पर समयपर खरीददारने इन्कार कर दिया। अतः रुपयेका प्रबन्ध आवश्यक था।

इसी समय 'कल्याण' नवम्बर १९६५ का अङ्क मुझे मिला। उसमें निम्नलिखित मन्त्र था—

ॐ भूरिदा भूरि देहिनो, मा दभ्रं भूर्या भर ।
भूरि घेदिन्द्र दित्ससि ।
ॐ भूरिदा ह्यसि श्रुतः पुरुत्रा शूर वृत्रहन् ।
आ नो भजस्व राधसि ॥

(ऋग्वेद ४ । ३२ । २०-२१)

'हे लक्ष्मीपते ! आप दाता हैं, दानी हैं, साधारण दानी नहीं, प्रत्युत बहुत बड़ा दान देनेवाले हैं। आप्तजनोंसे सुना है कि संसारभरसे निराश होकर जो याचक आपसे याचना करता है, आप उसे रीता नहीं लौटाते। उसकी झोली भर देते हैं। प्रभो ! मेरी पुकार सुनो और इस अर्थ-संकटसे मुझे बचाओ।'

रुपये मिलनेकी कहीं आशा नहीं थी। अपना कमाया हुआ सारा धन (शिक्षकके लिये कितना) जी० पी० फंड, ग्रेच्युइटि, बीमा और एक तिहाई पेन्शन सब बेचकर साढ़े तीन हजार। करीब चौदह हजार शिवगंजके मकान बनानेमें लगा दिये। यद्यपि जमीन हमारे बड़े लड़के गिरीशके नामसे थी तथापि मैंने सारी कमाई उसीमें लगा

दी। सोचा था—आरावाला मकान बीस हजारमें बिकेगा तो दस-दस हजार दोनों लड़कियोंको दे दूँगे। पर बात दूसरी ही हुई। मकान बिका नहीं और विवाह निश्चित हो गया।

इस संसारमें सिवा परमात्माके और कोई सहायक नहीं, वही अशरणशरण है।

मैं नित्यप्रति रातू रोड—हरमू रोड जंकशनके निकट श्रीराम-मन्दिरमें, जिसे 'पंच मन्दिर' भी कहते हैं, जाता और उपर्युक्त मन्त्र तथा उसका अर्थ पढ़कर आँसू बहाया करता। और कोई सहारा ही नहीं था। परिवारमें कोई इतने रुपये देनेवाला नहीं था, न लड़कोंके पास रुपये थे। अतएव मन्दिरके द्वारपर प्रतिदिन उपर्युक्त मन्त्र और उसका अर्थ पाठकर आँसू बहाते रहना ही मेरा कर्तव्य हो गया। हाँ, अपना विद्यालयका काम मैंने जारी रक्खा, छुट्टी नहीं ली।

कई दिनोंके बाद प्रभुकी नजर फिरी—उनका सिंहासन डोला और रातू रोडके उत्तर काँके रोडमें स्थित श्रीचक्रवर्ती बाबूने, जिनके यहाँ मैं रोज सबेरे बच्चेको पढ़ाने जाया करता, एक दिन मुझसे पूछा—'मास्टर साहब! आजकल आप बहुत चिन्तित दिखायी देते हैं। मेरे यहाँ आप पढ़ाने आते हैं पर आप दुखी अवश्य हैं।' मैंने सारी कहानी कह डाली। इसपर उन्होंने कहा—'आप मकान बेचनेमें जल्दी न करें। मैं इंतजाम कर दूँगा।' इसपर मैंने अपने हृदयमें सोचा—'ये बंगाली बाबू कितना देंगे। मुझे चाहिये हजारों—तेरह-चौदह हजार!' पर मैंने उनसे इतना ही कहा—'आपकी कृपा, ईश्वर दयालु है।' इधर मेरी नित्यकी प्रार्थना चालू रही। समय आया और बंगाली बाबूने १४। २। ६५ की रातको बिना लिखापढ़ीके मुझे १०००) दे दिये। मैंने मंगलवारको 'बरेछा' कर दी। फिर ५०००) की जरूरत पड़ी, उन्होंने दे दिये। तत्पश्चात् बसंतपंचमीको फिर ५०००) दिये और अन्तमें २०००) विवाहके कई दिन पहले दिये। इस प्रकार उन्होंने मेरी सारी माँगें सहर्ष पूरी कीं—ईश्वर उनका भला करें। जब मेरा मकान सन् १९६७ की जुलाईमें बिक गया तो मैंने उनके सारे रुपये लौटा दिये। ये सब रुपये बिना सरकारी रजिस्टरी केवल साधारण कागजपर उन्होंने मुझको दिये थे।

यह सब लिखनेका तात्पर्य यही है कि कोई भी आतुर प्राणी अनन्य शरण होकर प्रभुको पुकारते हैं तो प्रभु उसकी पुकार अवश्य सुनते हैं—यह मेरा अटल विश्वास है। इस प्रकार मुझे अपने जीवनमें इधर कई बार प्रार्थना करनी पड़ी और प्रभुने सहायता की—'बोलो दीनबन्धु प्रभुकी जय!'

—अखौरी अवधेशनन्दन, राँची

(८)

पशुओंके खुर पका* [Foot and Mouth Disease] रोग-नाशके लिये यन्त्र

'कल्याण'के प्रिय पाठकोंकी सेवामें एक सिद्ध यन्त्र-प्रयोग दिया जा रहा है। इससे लाभ उठाया जायगा, ऐसी आशा है।

पशुओंके 'खुरपका' रोग-नाशके लिये यह यन्त्र मेरे स्वर्गीय पूज्य पितामह श्रीपुरुषोत्तमदासजीको एक महात्मा संतने दिया था। यन्त्र बड़ा चमत्कारी है। मेरा और मेरे पिताजीका निजी अनुभव है—आजतक हमने हजारों पशुओंपर इसका प्रयोग करके शीघ्र सफलता प्राप्त की है।

प्रयोग इस प्रकार है—भगवान् श्रीगणेशजीका नाम-स्मरण करके यन्त्रको रविवार या मंगलवारके दिन कागजपर स्याहीसे लिखना चाहिये, फिर उसे खानेके तेलका धूप देकर काले कपड़ेमें लपेटकर रोगी पशुके गलेमें बाँध देना चाहिये।

॥ श्रीखुरपका रोग-नाशका यन्त्र ॥

श्रीगणेशाय नमः

	४२	४२	४२	४२	
४२	१९	१४	५	४	४२
४२	१३	८	९	१२	४२
४२	७	१८	११	६	४२
४२	३	२	१७	२०	४२
	४२	४२	४२	४२	

—ज्योतिषी महेन्द्रकुमार, ए० दरजी 'भृगुदेव ज्योतिष कार्यालय'
हालोल, जि० पंचमहाल [गुजरात]

* इस रोगको गुजराती भाषामें 'खरवा-मोवासा' [खरवालो] कहते हैं।

राजस्थान अकाल-सेवा

राजस्थान बीकानेर तथा देशनोक आदिमें गीताप्रेस-सेवादलकी ओरसे सेवाकार्य भलीभाँति चल रहा है। इस समय गीताप्रेस-सेवादलके केन्द्रोंमें ५,०००से ज्यादा पशु हैं, जिनको रोज खानेको दिया जा रहा है। कुछ पीड़ित मनुष्योंकी सेवा भी हो रही है। इसके अतिरिक्त सेवादलकी ओरसे रतनगढ़, चूरू तथा बिसाऊ भी कुछ सहायता भेजी गयी है। जबतक वर्षा न हो जाय तबतक सहायताका कार्य चालू रखना आवश्यक है। इस सम्बन्धमें कुछ पूछना हो या सहायता भेजनी हो तो 'गीताप्रेस-सेवादल, गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)' को पत्र लिखना चाहिये। सहायताका चेक या ड्राफ्ट हो तो वह 'गीताप्रेस'के नामका होना चाहिये।

तीन नयी पुस्तकें! *प्रकाशित हो गयीं!!*

नकली और असली प्रेम
(पढ़ो, समझो और करो, भाग ८)

आकार २०×३०=१६ पेजी, पृष्ठ १३६, मूल्य पचास पैसे, डाकखर्च रजिस्ट्रीसे पचासी पैसे।

यह 'नकली और असली प्रेम' नामक पुस्तिका 'पढ़ो, समझो और करो' की आदर्श चरित्रकथाओंका आठवाँ भाग है, जिसमें ऐसी बहुत-सी घटनाएँ दी गयी हैं जिनके अध्ययन, पठन, मनन तथा यथायोग्य जीवनमें उतारनेसे लोक-परलोकमें कल्याण तथा परमार्थके मार्गमें अग्रसर हुआ जा सकता है।

आशा है कि प्रेमीगण इसके अध्ययन और प्रचारसे लाभ उठायेंगे।

मधुर भाग २ (दिव्य श्रीराधा-माधव-प्रेमकी मधुर झाँकी)

आकार २०×३०=१६ पेजी, पृष्ठ १५८, मूल्य साठ पैसे, डाकखर्च रजिस्ट्रीसे नब्बे पैसे।

'मधुर' की चालीस मधुर झाँकियोंका प्रथम भाग पहले प्रकाशित हो चुका है। इस दूसरे भागमें भी रसलीलामय भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी अभिन्नस्वरूपा श्रीराधाजीके एवं श्रीकृष्णमनस्का तथा श्रीकृष्णप्राणा गोपाङ्गनाओंके दिव्य त्यागमय, आनन्दमय प्रेमकी पारस्परिक उद्‌गारोंके रूपमें ३२ झाँकियाँ हैं।

प्रार्थना-पीयूष

आकार डिमाई आठ पेजी, पृष्ठ-संख्या २६, मूल्य पंद्रह पैसे, डाकखर्च अलग

भगवान्‌की प्रार्थनामें अमोघ तथा अमित शक्ति है। प्रार्थनासे कठिन-से-कठिन कार्य सहजमें सम्पन्न हो सकते हैं। प्रार्थना होनी चाहिये—सच्चे मनसे और विश्वासके साथ। प्रस्तुत पुस्तिकामें दो प्रकरण हैं। पहलेमें प्रार्थना क्यों, किस लिये करनी चाहिये और कैसी, किस प्रकारकी करनी चाहिये—यह बतलाया गया है। दूसरेमें प्रार्थनाके १६ पद हिन्दी-अनुवादसहित हैं, जिनमें पवित्र और उच्चभावनाकी प्रार्थनाका स्वरूप दिया गया है।

बहुत दिनोंसे अप्राप्त पुस्तकोंके नये संस्करण

मानस-पीयूष (लेखक—महात्मा श्रीअञ्जनीनन्दनशरणजी)

प्रस्तुत ग्रन्थ सात खण्डोंमें प्रकाशित हुआ है। गीताप्रेससे कभी कोई, कभी कोई खण्ड नहीं मिल पाता था। इस समय सातों खण्ड उपलब्ध हैं। मूल्य खण्ड एक नौ रुपयेमें, खण्ड दो बारह रुपयेमें, खण्ड तीन तेरह रुपयेमें, खण्ड चार चौदह रुपयेमें, खण्ड पाँच आठ रुपये पचास पैसेमें, खण्ड छः चौदह रुपयेमें और खण्ड सात दस रुपये पचास पैसेमें मिलता है। पूरा ग्रन्थ एक साथ इक्यासी रुपयेमें मिलता है। डाकखर्च अलग। रेलसे मँगानेवालोंको सुविधा होगी, लेकिन अपने रेलवे स्टेशनका नाम-पता हिंदीमें साफ-साफ लिखनेकी कृपा करें। पचास रुपयेसे अधिकके आर्डरपर १५% कमीशन और सौ रुपयेके आर्डरपर रेलभाड़ा फ्री मिलता है।

बृहदारण्यकोपनिषद् (मन्त्र, मन्त्रार्थ, शांकरभाष्य और भाष्यार्थसहित)

आकार डिमाई आठ पेजी, पृष्ठ १३८४, छः बहुरंगे चित्र, मूल्य पाँच रुपये पचास पैसे, डाकखर्च २.२५

बहुत दिनोंसे यह ग्रन्थ अप्राप्य था, अब मिलने लगा है। जिन्हें लेना हो, वे मँगवानेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

सूचीपत्र मुफ्त मँगाइये

एक मासमें 'कल्याण'के १० हजार नये ग्राहक बनाइये

इस समय देशमें सब ओरसे अविश्वास, नास्तिकता, दुराचार, अशान्ति और आसुरी सम्पदाकी काली घटा छा रही है। इस अवस्थामें सात्त्विक प्रकाशकी बड़ी आवश्यकता है। आपका 'कल्याण' ऐसा प्रकाश फैलानेका काम किसी अंशमें कर रहा है, और भी विशेष कर सकता है। इस बार 'कल्याण'का जो 'परलोक और पुनर्जन्माङ्क' निकला है, उसके द्वारा विश्वास, आस्तिकता, सदाचार, शान्ति और दैवी सम्पदाके विस्तारका बहुत कुछ काम होनेकी आशा है। 'कल्याण'के साधारण अङ्कोंमें भी ऐसी ही सामग्री रहती है जिससे जीवनका वास्तविक उत्थान हो। अतएव विश्वचराचरका कल्याण चाहनेवाले 'कल्याण' के प्रेमी ग्राहक, पाठक सभी महानुभावों और देवियोंसे यह निवेदन है कि वे ऐसा विशेष यत्न करें, जिससे एक मासमें 'कल्याण'के कम-से-कम दस हजार या अधिक नये ग्राहक अवश्य बन जायँ। 'कल्याण'के लाखों पाठक प्रयत्नमें लग जायँ तो लाखों नये ग्राहक बन सकते हैं।

ग्राहक बननेवालोंको लाभ—

'कल्याण'के ग्राहक बननेवालोंको शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक बहुत-से लाभ हैं, जिनमेंसे कुछ ये हैं—

(१) पैसेका सदुपयोग, (२) ९.०० रुपयेके बदलेमें उससे बहुत अधिक मूल्यकी सामग्रीकी प्राप्ति, (३) जीवनको उच्च स्तरपर पहुँचानेवाले साहित्यकी प्राप्ति, (४) 'कल्याण'में प्रकाशित अनुभूत प्रयोगोंसे सरलतापूर्वक शारीरिक, मानसिक रोगोंके नाशमें सहायता, (५) 'कल्याण'में प्रकाशित विविध मन्त्रोंके ज्ञान तथा अनुष्ठानसे लौकिक, पारलौकिक तथा पारमार्थिक लाभ, (६) 'कल्याण'में प्रकाशित लेखोंसे सदाचार, निष्कामकर्म, भगवद्भक्ति, योग, तत्त्वज्ञान और प्रेमके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान और उनके साधनसे यथार्थ मानवताके विकासमें सहायता और (७) पारमार्थिक साधनमें सुरुचि तथा प्रवृत्ति होनेपर मानवजीवनके परम उद्देश्य—भगवत्प्राप्तिके मार्गमें प्रगति।

ग्राहक बनानेवालोंको लाभ—

सदाचार, सद्भाव, दैवीसम्पत्ति तथा भगवद्भावके प्रचारमें सहायक होनेका महान् पुण्य, पतनकी ओर जाती हुई जनताको उत्थानकी ओर मोड़कर ले जानेकी महान् मानव-सेवा। इसके अतिरिक्त 'कल्याण' के अधिक प्रचारके उद्देश्यसे इस बार, जो सज्जन सहर्ष लेना चाहेंगे—उनको सत्साहित्यके रूपमें पुरस्कार भी मिलेगा—

कम-से-कम दस ग्राहक बनाकर रुपये भिजवानेवालेको स्वयं या उनके बताये हुए किसी भी व्यक्ति अथवा संस्थाको विशेषाङ्कसहित सालभर 'कल्याण' बिना मूल्य दिया जायगा।

जो 'कल्याण' नहीं लेना चाहेंगे, उनको ९.०० मूल्यकी गीताप्रेसकी पुस्तकें बिना मूल्य दी जायँगी। पर पुस्तकें लेनेवालोंको डाकखर्च अपनी ओरसे देना पड़ेगा; या उतने ही कम मूल्यकी पुस्तकें लेनी पड़ेंगी।

इसी प्रकार २०, ५०, १०० या अधिक ग्राहक बनानेवालोंको लेना चाहनेपर इसी अनुपातसे अधिक मूल्यका साहित्य मिल सकेगा। नगद रुपये नहीं। इसको अधिक-से-अधिक लोग पढ़ सकें, इसीलिये यह पुरस्कारका व्यय केवल इस बारके लिये किया जा रहा है।

अतएव विशेष उत्साहसे लग जाइये इस पवित्र काममें और महीनेभरमें कम-से-कम दस हजार या अधिक नये ग्राहकोंके रुपये मनीआर्डरसे भिजवाइये।

मिथ्यावादियोंसे सावधान

वाँकल, गुजरातसे एक सज्जन लिखते हैं कि वहाँ कोई साधु आये हैं जो कहते हैं कि 'गीताप्रेस, गोरखपुर'का उद्घाटन मैंने ही किया था, सो यह बात सर्वथा मिथ्या है। गीताप्रेसका स्थापन तथा उद्घाटन करनेवाले श्रीजयदयालजी गोयन्दका तथा श्रीघनश्यामदासजी जालान थे, जो देह-त्याग कर चुके हैं। अतः ऐसे लोगोंपर न तो विश्वास करना चाहिये और न उन्हें पैसे ही देने चाहिये।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)